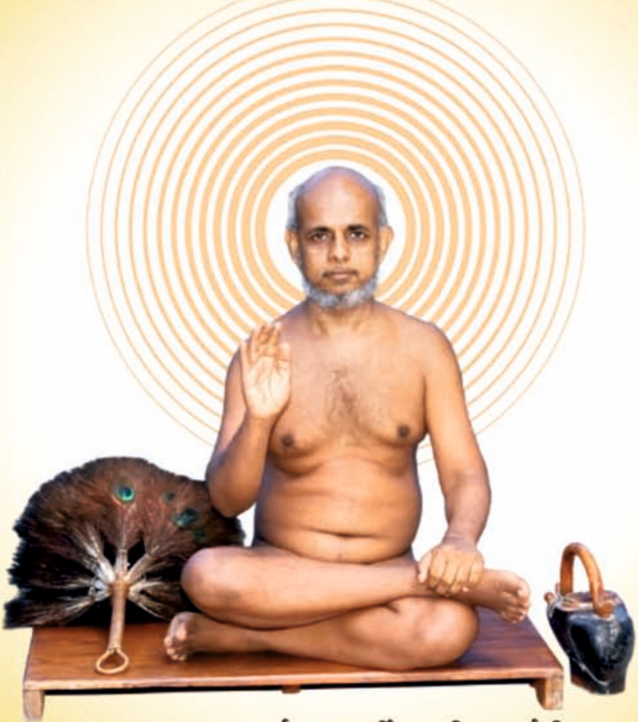

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971 * मुनिदीक्षा-11-05-1989 * आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

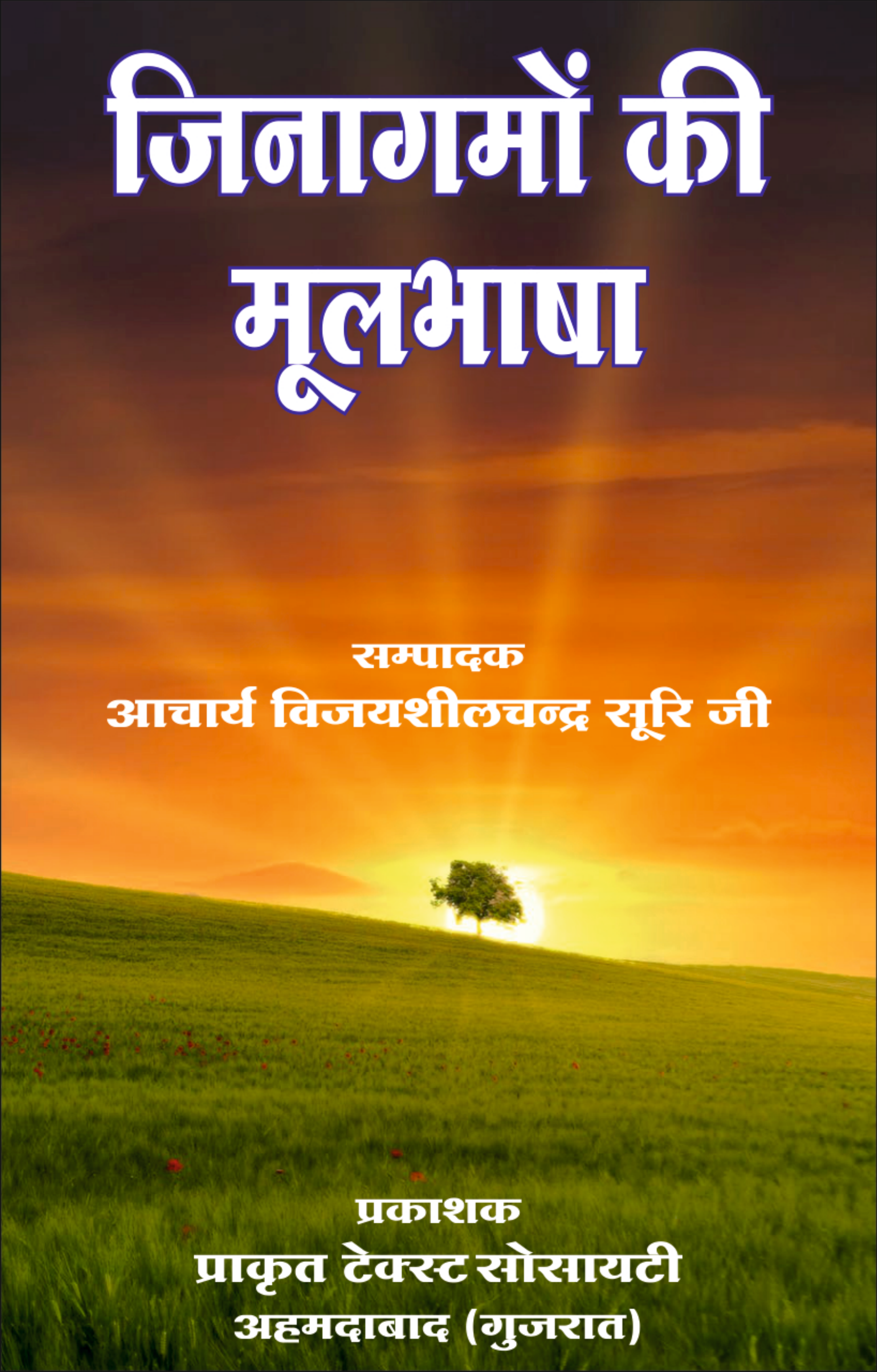

जिनागमों की मूलभाषा

सम्पादक

आचार्य विजयशीलचन्द्र सूरि जी

प्रकाशक

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी

अहमदाबाद (गुजरात)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

जिनागमों की मूल भाषा

(The Original Language of Jain Canonical Texts)

: मुख्य संपादक :
दलसुख मालवणिया
हरिवल्लभ भायाणी

: संपादक :
आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि
डॉ. के. आर. चन्द्र

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी
अहमदाबाद

प्राकृत ग्रन्थ परिषद् ग्रन्थाङ्क नं. ३४

जिनागमों की मूल भाषा

(अप्रैल २७-२८, १९९७ को आयोजित
विद्वत्-संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र)

The Original Language of Jaina Canonical Texts

मुख्य संपादक
दलसुख मालवणिया
हरिवल्लभ भायाणी

संपादक
आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि
डॉ. के. आर. चन्द्र

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी
अहमदाबाद
१९९९

प्रकाशक :

मानद् मंत्री
प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी
c/o. ला. द. भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर
गुजरात युनिवर्सिटी के पास
अहमदाबाद-३८०००९

प्रतियाँ : ३५०

प्रकाशन वर्ष - १९९९

मूल्य : रू. १२०-००

मुद्रक :

क्रिशना ग्राफिक्स
किरीट हरजीभाई पटेल
९६६, नारणपुरा जूनाँ गाम,
अहमदाबाद-३८००१३
फोन : ७४९४३९३

प्रकाशकीय

हर्ष की बात है कि "जिनागमों की मूल भाषा" पर २७-२८ अप्रैल, १९९७ को अहमदाबाद में संपन्न 'विद्वत्-संगोष्ठी' में जो शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये थे उनको प्रकाशित करने का अवसर हमारी संस्था को प्राप्त हुआ है और इस कार्य को पूरा करते हुए हम इस संगोष्ठी के आयजकों का आभार मानते हैं।

इसके अतिरिक्त उन सभी विद्वानों को भी हमारा साधुवाद जिन्होंने परिश्रमपूर्ण शोध-पत्र प्रदान किये हैं और इस विषय से संबंधित ज्ञान के विकास में अपना योगदान दिया हैं ।

इस ग्रंथ के संपादन में आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरिजी और डॉ. के. आर. चन्द्र ने जो परिश्रम उठाया हैं उसके लिए हम उनका आभार मानते हैं । प्रूफ संशोधन में सुश्री शोभना आर. शाह ने जो सहायता की है उसके लिए उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रंथ को सुंदर ढंग से मुद्रित करने के लिए क्रिश्ना ग्राफिक्स के श्री किरीटभाई हरजीभाई पटेल का भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रंथ के मुख पृष्ठ की साज-सज्जा के लिए हम क्रिश्ना ग्राफिक्स का भी आभार मानते हैं ।

यह प्रकाशन भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ('भूमिका' के अंग्रेजी अनुवाद के कारण विशेषतः) के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और आशा करते हैं कि इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वान् अपनी अपनी प्रतिक्रियाओं से हमें लाभान्वित करेंगे ।

भारत स्वातंत्र्य दिन
१५ अगस्त, १९९९

दलसुख मालवणिया
हरिवल्लभ भायाणी

संपादकीय

"जिनागमों की मूल भाषा पर विद्वत्-संगोष्ठी" का जो आयोजन २७-२८ अप्रैल, १९९७ को अहमदाबाद में किया गया था उसका मूल उद्देश्य यह था कि भगवान् महावीर द्वारा छठ्ठी-सातवीं शताब्दी ई. सन् पूर्व में दिये गये अर्थ-रूपी उपदेशों को उनके ग्यारह गणधरों (जिनमें इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मा स्वामी प्रमुख थे) ने जिस भाषा में सूत्रबद्ध किया था वह भाषा कौन सी थी ? इस सम्बंध में पुनः प्रकाश डालने के लिए क्यों बाध्य होना पड़ा यह एक गंभीर एवं शोचनीय बात कही जा सकती है क्योंकि इस विशिष्ट भाषा के बारे में अभी तक दोनों श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में सर्वमान्य एक ही परम्परा चलती आयी है परंतु कुछ वर्षों से दिगम्बर सम्प्रदाय के एक वर्ग द्वारा ऐसा प्रतिपादन किया और करवाया जा रहा है कि 'मूल आगम ग्रंथ' तो शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचे गये थे परंतु बाद में उन्हें अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया है। अर्थात् ऐसा मिथ्या प्रचार किया जा रहा है कि शौरसेनी भाषा में उपलब्ध जैन सिद्धान्त संबंधी साहित्य ही मौलिक एवं प्राचीन आगम साहित्य है जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य तो उसके बाद का द्वितीय कोटि का साहित्य है। इतना ही नहीं परंतु ऐसा भी जोर-शोर से झूठा प्रचार किया जा रहा है कि अर्धमागधी भाषा की उत्पत्ति भी शौरसेनी प्राकृत में से हुई है।

इस प्रकार का जो विवाद उत्पन्न किया गया है वह कहाँ तक उचित है ? इस संबंध में विधिवत् चर्चा करने के लिए इस विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन किया गया था जिससे अब तक विकसित भाषाशास्त्र की कसौटी एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर व्यवस्थित रूप से यह सिद्ध किया जा सकें कि भगवान् महावीर के उपदेशों की मूल भाषा कौनसी थी अर्धमागधी या शौरसेनी ?

इस संगोष्ठी में भारत भर के जैन और जैनेतर विद्वानों ने अपने अपने जो गवेषणात्मक संशोधन पत्र प्रस्तुत किये उन्हें अब इस ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस संगोष्ठी की जो उपलब्धि हुई वह पाठकों के सामने प्रस्तुत है और उसके बारे में किसी का पक्ष लेने या विरोध करने की आवश्यकता ही नहीं रही क्योंकि स्वतः ही स्पष्ट हो गया है कि जैन आगमों की मूल भाषा कौन सी थी और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम में उसका क्या स्थान था।

इस संगोष्ठी के प्रेरक आचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरिजी का हम सहृदय आभार

मानते हैं तथा जिन जिन विद्वानों ने अपने अपने शोध-पत्रों द्वारा और अन्य विद्वानों ने इस चर्चा में रूचिपूर्वक भाग लेकर इस संगोष्ठी को प्राणमय बनाने में जो सहयोग किया हैं उसके लिए हम उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं । संगोष्ठी में पढ़े गये शोध-पत्रों के अतिरिक्त डॉ. सागरमलजी जैन के दो और आलेख हमें प्राप्त हुए थे जो इस संगोष्ठी के उद्देश्य के पूरक होने के कारण इस ग्रंथ के अन्त में जोड़ दिये गये हैं और इसके लिए हम डॉ. सागरमलजी का आभार मानते हैं ।

इस संगोष्ठी का आयोजन सम्मिलित रूप में तीन संस्थाओं (प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्या मंडल एवं प्राकृत जैन विद्या विकास फंड) के द्वारा किया गया था तदर्थ उनका बहुत बड़ा आभार मानते हैं ।

इस ग्रंथ के प्रारंभ में सभी आलेखों के विषय में डॉ. सागरमलजी जैन ने जो आलोचनात्मक 'भूमिका' हिन्दी भाषा में लिखी है तदर्थ उनका सविशेष आभार मानना हमारा कर्तव्य बन जाता है । इस 'भूमिका' से इस ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है और इससे पाठकों को इस ग्रंथ की विषय-वस्तु को समझने में सरलता महसूस होगी ऐसी हमारी मान्यता है ।

संगोष्ठी के अवसर पर भेजे गये शुभेच्छा संदेशों के लिए हम सभी महानुभावों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनमें से महत्त्वपूर्ण संदेश इसी ग्रंथ में प्रकाशित किये गये हैं । पाश्चात्य विद्वानों ने प्रेरणात्मक शुभेच्छा संदेश भेजकर हमारा उत्साह और भी बढ़ाया हैं तदर्थ हम उनका सविशेष आभार मानते हैं । उनकी यह महती इच्छा थी कि इस महत्त्वपूर्ण संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का सार अंग्रेजी भाषा में इस ग्रंथमें ही प्रकाशित हो तो इस संगोष्ठी से वे भी लाभान्वित हो सकेंगे । इस हेतु की पूर्ति के रूप में हिन्दी 'भूमिका' का अंग्रेजी अनुवाद भी 'इन्ट्रोडक्शन' के रूप में इसी ग्रंथ में प्रकाशित किया गया है और इस अंग्रेजी अनुवाद के लिए हम प्रो. डॉ. एन. एम. कंसारा का आभार मानते हैं ।

संगोष्ठी के इस ग्रंथ का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा किया जा रहा है इससे हमारी एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गयी है तदर्थ हम उस सोसायटी के पदाधिकारीयों एवं प्रमुख शुभ-चिन्तक पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया और प्रो. डॉ. हरिवल्लभ भायाणी का हृदय-पूर्वक सविशेष आभार मानते हैं ।

चौमासी चतुर्दशी
२७, जुलाई, १९९९

विजयशीलचन्द्रसूरि,
के. आर. चन्द

दो शब्द

"जिनागमों की मूल भाषा" के विषय में जो विद्वत्-संगोष्ठी हुई थी उसका विवरण ('भूमिका' रूपी सार) पढ़ा जो इस पुस्तिका में प्रस्तुत है। विद्वानों के विचारों को जानने का यह एक उत्तम साधन है और जिज्ञासु व्यक्ति इन विचारों का लाभ उठा सकेंगे यह एक संतोष एवं हर्ष की बात है।

वैसे तो जैनों की चली आरही दीर्घकालीन किसी भी परंपरा में अब तक यह कभी भी चर्चा का विषय ही नहीं बना है परंतु कुछ समय से कतिपय आचार्य और विद्वानों के द्वारा प्राचीन परंपरा को तोड़-मरोड़ करके पक्षपात-पूर्ण रुख अपनाया जाने लगा है तब ऐसी स्थिति में इस 'संगोष्ठी' का होना परम आवश्यक बन गया था।

अब जब विद्वानों ने इस विषय पर व्यापक और गंभीर चर्चा करली हैं तब लोगों में जो भ्रान्ति फैलायी गयी है वह दूर हो जाएगी ऐसा मेरा विश्वास है। इसी हेतु को ध्यान में रखते हुए इस 'संगोष्ठी' के आयोजकों एवं इसमें भाग लेने वाले सभी विद्वानों को मेरी तरफ से धन्यवाद।

पं. दलसुख मालवणिया

अहमदाबाद
चौमासी चतुर्दशी
२७, जुलाई, १९९९

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

संपादकीय

दो शब्द

Fxcerpts from Messages and Opinions

भूमिका १

Introduction २७

विषय प्रतिष्ठापन ५७

खण्ड -१ Section -1

A Few Observations on the History and Development of MIA. Languages and Dialects. H.C.Bhayani ७३

Jaina Āgama Texts and Their Problems in Editing S.R.Banerjee ७८

The Myth of "Prakṛtiḥ Saṁskṛtam" R.P.Poddar ८४

Place of Ardhamāgadhī and Śauraseni Languages of Jain Canonical Works in the Evolution of MIA. Languages. K.R.Chandra ८९

A Glimpse of Some of the Archaic Lingustic Traits Inherited by Āgamic Ardhamāgadhī from Vedic Chandas Speech. N.M.Kansara ११५

Old Linguistic Elements in the Ardhamāgadhī Language in Comparision to Śaurasenī. D.N.Sharma ११९

खण्ड - २ Section -2

जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी सागरमल जैन १२७

पुरातत्त्व और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में शौरसेनी भाषा की प्राचीनता मधुसूदन ढांकी १५९

आगमसूत्रों की वर्तमान भाषा	समणी चिन्मयप्रज्ञा	१६१
शौरसेनी प्राकृत में प्राचीन भाषा-तत्त्व	प्रेम सुमन जैन	१६९
खारवेल के प्राचीन (ई. सन् पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दी) काल के शिलालेख की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत की तुलना	शोभना आर. शाह	१८६
तीर्थंकरों की उपदेश-भाषा	जितेन्द्र बी. शाह	१९४
મૌર્ય સમ્રાટ્ અશોકના અભિલેખોની ભાષા સાથે અર્ધમાગધી પ્રાકૃતનું સાદશ્ય	ભારતી શેલત	१९९

परिशिष्ट Appendix

"प्राकृत विद्या" में प्रो. टाँटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान के विचार बिन्दुओं की समीक्षा	सागरमल जैन	२०९
शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में प्रो. भोलाशंकर व्यास की स्थापनाओं की समीक्षा	सागरमल जैन	२२३

Excerpts From Scholars' Messages And Their Views On The Importance And Necessity Of The Seminar

DEPARTMENT of SANSKRIT
The Universty of Endinburhg
Edinburgh
Scotland, U.K.
16-4-97

Dear Professor Chandra,

Thank you for your letter advising me about the forthcoming seminar on the "Original Language of the Jain Canonical Texts".

It is very gratifying to learn that such an academic function has been organised and that **so many distinguished scholars are participating in it.** As you will know, sixty or so years ago Heinrich Lüders saw the desirability of describing the linguistic stratum underlying the Pāli scriptures. The fragmentary results of this research appeared in his *Beobachtungen uber die Sprache des buddhistischen Urkanons* and **Buddhist philology has continued to benefit from his insights. Unfortunately, with the exception of Alsdorf, no western researcher has attempted to consider the question of the original language of the Jain scriptures,** so that it is very much to the credit of Indian scholars that they are beginning to address this subject in a critical and concerted manner. The first valuable results of this line of investigation are familiar to me from your *Prācīn Ardhamāgadhī kī Khoj Meṃ* and I would hope that the seminar leads to the emergence and dissemination of further knowledge about this fascinating subject. **Only by challenging longheld presuppositions will scholarship on ancient texts be advanced.**

My best wishes for a successful and fruitful seminar.

Yours Sincerely,
Paul Dundas
Senior Lecturer in Sanskrit

THE AUSTRALIAN NATIONAL UNIVERSITY
Faculty of Asian Studies, Asian History Centre

CANBERRA, AUSTRALIA
14-4-97

Dear Prakrit Jain Vidya Vikas Fund

The exact nature of the original language of the Jaina texts is without doubt an important question for all those who have a scholarly interest in Jaina religion and literature. The plan to hold a seminar on this topic is a very welcome one and **it is to be hoped that the important papers presented therein will be published to allow for the dissemination of information to a wide audience.** I have no hesitation in wishing the proceedings every success.

Sincerely
Royce Wiles

Dr. G. V. Tagare

Sangali
April 16, 97

Dear Dr. Chandra,

I am sure your work will serve as a beacon to future researchers in restoring the AMg. Canon to its approximate purity. All scholars of Indology who are interested in Philosophy and Religion shall have to be grateful to you for presenting a critical version of the AMg. Canon.

Sincerely Yours,
G. V. Tagare

Profesor V. M. Kulkarni

Mumbai
16, April 1997

Dear Dr. Chandra,

I wish every success to the Seminar. I have not followed the recent controversy regarding the language of the Jain Āgama. I will be extremely thankful to you if in due course you make me available the proceedings of the Seminar.

Yours Sincerely,
V. M. Kulkarni

Prof. Dr. W. B. BOLLEE
HEIDELBERG, Germany

19-4-97

Dear Dr. Chandra,

....I think with such prominent speakers the seminar can only be a success. At any rate I send you my good wishes and the expectation **that the papers will be translated into English and published.**

I hope your conference will stimulate the younger generation to occupy themselves with Prakrit literature.

Yours Sincerely,
W.B. Bollee

M. D. Vasantharaj Mysore

12-4-1997

Dear Dr. K. R. Chandra,

Such of the activities I am of the firm opinion, are very essential for the progress of the Jainological Studies and in particular, for the promotion of the study of Jaina Āgamas. I have whole-hearted appreciation for the activities carried on by you under the auspices of 'प्राकृत जैन विद्या विकास फंड'. I wish all success for the proposed संगोष्ठी.

Sincerely Yours
M. D. Vasantharaj

Dr. Jayendra Soni, Ph.D. Marburg, (Germany)

22 April 1997

Dear Dr. Chandra,

It is with great pleasure that I read your announcement of the release of the Ācārāṅga, Prathama Adhyayana, linguistically re-edited by you. **Every scholar in the field of Jainism will welcome this enormous undertaking under your able hands and will very quickly**

realize the value of such a publication. Your work will undoubtedly be a major contribution as a basis for further research in the Jaina canonical studies.

With all good wishes for other such projects,

Yours Sincerely

Jayendra Soni

Prof. P. S. Jaini

Dept. of South South East Asian Studies
University of California, Berkeley, U.S.A.
April 23, 1997

Dear Dr. Chandra

Thank you very much for your kind letter of March 25. I am delighted to hear about the upcoming seminar on the Original Language of the Jain Canonical Texts. I must congratulate you for organizing this programme where you have brought together eminent scholars for discussion on important topics related to the original language of both the Shvetambara and Digambara canonical texts. **I hope that the proceedings will be available soon in print for a wider audience.**

Yours Sincerely,

Padmanabh S. Jaini

Professor of Buddhist Studies

Professor J. C. Wright

South Asia Dept.,
SOAS, University of London,
London

28-5-97

Of course I remain most interested in the progress of your re-appraisal of the testimony of Ācārāṅga MSS for the language of Amg. texts, and hopeful that you can publish more of the information gleaned.

Your findings seem to confirm that a return to the method of Jacobi's 1882 edition of Ācārāṅga would be appropriate in case of variation, he gave in italics the most antique-looking reading that

happened to be available (e.g.... **nātam bhavati... ovavāiye....**), even although, on his own showing, such readings can always be put down to an instinct to clarify the meaning. Thus he rightly could take note of effects like 1.2 **māyā me** ***pitā*** **me** and 1.6 **mātarṃ piyaraṃ**. But I do not believe that it is safe to refer to this (as he did) as a 'retention' of *-t-*: one is presumably less likely to find a *-t-* in a purely Prakrit form like **bhāyā**. With **pariṇṇā**, and with the same sort of effect in ***hiraṇṇeṇaṃ suvanneṇaṃ*** elsewhere (ZDMG 1880), his policy was to archaize with ***parinnā*** and ***suvaṇṇeṇaṃ***.

I take the opportunity to congratulate you on your explanation of locative -*ammi*, which seems to solve one of the most perplexing problems of all. It goes well with the texts' failure to distinguish between *o-* and *u-*, and with Bühler's suggestion that graphic confusion between *n* and *ṇ* was involved : that would seem to justify Jacobi in his willingness to emend *u-*, *ṇ-* and *ṇṇ* (irrespective of the ạctunl readings) as I understand him.

With all good wishes,

J. C. Wright

6, Huttles Green, Shepreth,
Royston, Herts,
28-5-97

Dear Dr Chandra,

Thank you for your letter of 15-5-97. I am delighted to hear that the Seminar on the subject of the Original Language of the Jain Canonical Texts was so successful.

I was interested to hear the outcome of your deliberations. I **think that it is very likely that Ardha-māgadhī was the original language of the Jināgama or, since the language of the original Jināgama was presumably earlier than the Ardha-māgadhī we possess now, perhaps we should call it Old Ardha-māgadhī. I believe that this language was affected by the Mahārāṣṭrī Prakrit after Jainism had spread to Mahārāṣṭra, and I would agree that the Śaurasenī Āgamic works are relatively later.**

With best Wishes,

Yours Sincerely,

K. R. Norman

Prof. Dr. W. B. Bollee BAMBERG, Germany

Decr. 9th 1998

Dear Professor Chandra,

As is shown by the many scholars' acknowledgements in your book they (Prakrit scholars) fully recognize your point (Alsdorf once spoke to me about it with regard to the Thesis of Dr. Oetjens, one of his pupils) and appreciate your **present work on Āyāra** I, as that of a ***mārga darshak***. In my comment which I sent you on May 29th however, I hinted already at the practical consequences. **This work must be done principally in India where** most of the manuscripts are. **Who will do the Job ?**

Sincerly Yours

W. B. Bollee

DEPARTMENT OF SANSKRIT
The University of Edinburgh
Edinburgh

Scotland, U. K.

25-1-99

Professor K. R. Chandra

C/o Prakrit Jain Vidya Vikas Fund

Dear Professor Chandra,

It is clear that you have brought your exhaustive and exhausting work on the text of Ācārāṅga 1 to a successfual conclusion. It is indeed highly instructive that the first Jain text to be critically edited twice by western scholars (by Jacobi in 1882 and Schubring in 1910) should have been improved upon so markedly by an **Indian specialist.** We must of course respect and honour the work of the great pioneers but, as you have shown, we must also not be in thrall to all their presuppositions, editorial and otherwise. **Scholars, more soberly, will mull over the insights your work has provided into the transmission and modification of ancient Jain canonical texts.** Valuable reflections on this topic have also in fact been recently provided by the eminent French scholar, Professor Colette Caillat in her paper "Transmission textuelle et variations dans le canon jaina śvetāmbara : l' exemple de

1' Āyarangasutta", in N. Balbir and G.-J pinault, Langue, style et structure dane le monde indien, Paris: Librarie Honoré Champion 1996. Most importantly, we must await further editorial work based on your methods with reference to other old canonical texts and thereupon form broader conclusions.

Yours Sincerely,

Paul Dundas

मुनि जंबूविजय

वेड

ता. समी (गुज.)

९-४-९७

सुश्रावक डॉ. के.आर.चन्द्र,

योग धर्मलाभ.

विद्वत्संगोष्ठी में विभाग १ और २ में जो शोधपत्र आवे उनको खास पढना है। यदी मुद्रित होवे तो मुद्रित अन्यथा Xerox कर के भेजिएगा। संगोष्ठी में से जानने लायक अनेक बातें मिलेगी।

द : जंबूवि. का धर्मलाभ

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

पटना

दिनांक १०-४-९७

आदरणीय प्राज्ञवर चन्द्रजी,

आयोजित द्विदिवसीय **विद्वत्-संगोष्ठी** की सूचना से हर्ष हुआ है। जिनागामों की मूलभाषा पर अधिकारी विद्वानों द्वारा बहुकोणीय चिन्तन और शोध-पत्र-वाचन का अवश्य ही ऐतिहासिक महत्त्व है।

सम्प्रति शौरसेनी पर नई दृष्टि से प्रकाश-निक्षेप का जो आग्रह घनीभूत हो उठा है, वह प्राकृत भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में युगान्तर को संकेतित करता है।

आशा है, प्रस्तुत विद्वत्-संगोष्ठी सांप्रदायिक आग्रह से मुक्त होकर 'जिनागमों की मूल भाषा' के अस्तित्व पर अपनी निष्पक्ष और निर्णयात्मक भूमिका उपस्थित करेगी।

साधुवाद सहित शुभाकांक्षी

श्रीरंजन सूरिदेव

Jayant P. Thaker Vadodra
11-4-1997

भाई श्री डॉ. ऋषभ चन्द्र,

आपके इस दिशामें किये प्रयासों से माता सरस्वती आनन्दित हुई होंगी। इसके लिए सारा समाज आपका ऋणी रहेगा। माँ भारती आपके कार्य के लिए सुविधा कर देगी यह मेरी श्रद्धा है।

मेरे ख्याल से इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्धमागधी शौरसेनी से प्राचीन है और शौरसेनी उसकी 'प्रकृति' हो ही नहीं सकती। मुझे खुशी होती है कि भाषा की दृष्टिसे आगमों के नये संस्करण की आवश्यकता का स्वीकार पूज्य आचार्यवर्य भी करते हैं। इन तीनों संस्थानों के आश्रयसे नये सम्पादनों का कार्य हो सकेगा। उसके लिए सुयोग्य सहायकों की मदद लेनी चाहिए।

ग्रन्थ-विमोचन एवं परिसंवाद उत्तम रीतिसे सम्पन्न हो और प्रेरक रहे यह मेरी अभिलाषा है, अभ्यर्थना है।

भवदीय
जयन्त ठाकर

Prof. Mahesh Tiwary, Shashtry Delhi
Ex- Professor of Buddhist Studies 14-4-1997

डा. के. आर. चन्द्र,

नमस्कार

आपका पत्र कल मिला। यह जानकर अधिक प्रसन्नता हुई कि आप प्राकृत भाषा के विकास में सर्वदा तत्पर रहे हैं। आपके द्वारा भाषिक दृष्टि से सम्पादित "आचाराङ्ग - प्रथम अध्ययन' का विमोचन पद्मभूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणियाजी द्वारा होने जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। यह ग्रन्थ मूलतः, अत्यन्त मूल्यवान है तथा **आपके द्वारा उसका अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य है।**

द्विदिवसीय संगोष्ठी सुखद परिवेश में विद्वज्नों के समागम तथा विद्यासंविलषित अभिभाषणों से सम्पन्न हो, यह मेरी मंगल कामना है।

आपका
महेश तिवारी

डॉ. कपूर चंद जैन

श्री कुन्द कुन्द जैन महाविद्यालय,
खतौली (उ.प्र.)
दिनांक १५-४-९७

आज जब प्राकृत भाषा का अध्ययन मात्र सतही तौर पर हो रहा है तब ऐसी संगोष्ठियों की उपादेयता और बढ़ जाती है जिनमें गूढतम विषयों पर विचार-विमर्श हो। संगोष्ठी अपने उद्देश्यों में सफल होगी ऐसी आशा है । मेरी कोटिशः शुभकामनाएँ स्वीकारें ।

डा. कपूरचंद जैन

Prakrit Bharati Academy
निदेशक
महोपाध्याय विनयसागर

18-04-97

सुस्नेही डॉ. के. आर. चन्द्रा

सादर जयजिनेन्द्र । "जिनागमों की मूल भाषा" पर द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी (२७-२८ अप्रेल, १९९७) का निमन्त्रण प्राप्त हुआ ।

भगवान् महावीर के धर्म-प्रवचन की भाषा पर जो वितण्डावाद खड़ा किया गया है उसके समाधान के लिये यह संगोष्ठी निर्णायक सिद्ध होगी, ऐसा मैं मानता हूँ ।

यह संगोष्ठी सफल हो, निर्णायक हो यही मेरी शुभ कामना है ।

सधन्यवाद,

भवदीय
म. विनयसागर

डॉ. सोहनलाल पटनी
निवृत्त प्रोफेसर, संस्कृत एवं हिन्दी

शांतिनगर,
सिरोही
२१-४-९७

आदरणीय चन्द्रा साहब,

सादर नमस्कार,

मैं पूरा प्रयत्न करूँगा कि आप जैसे मनीषीयों के दर्शन करूँ एवं आगमों की ज्ञान गंगा का अवगाहन करूँ । आप बहुत अच्छा काम कर रहे हैं ।

आपका ही

सोहनलाल पटनी

શ્રીમતી માલતીબેન

ભાવનગર,

તા. ૨૩-૪-૯૭

માનનીય ડૉ. ચંદ્રાસાહેબ,

આ પ્રસંગે આપના દ્વારા ભાષાકીય રીતે પુનઃ સંપાદિત 'આચારાંગ : પ્રથમ અધ્યયન'' ગ્રંથનું વિમોચન થવાનું છે જાણી આનંદ થયો. આ સંગોષ્ઠી જિનાગમોની મૂળ ભાષાને લગતી છે ત્યારે તેનું સવિશેષ મહત્ત્વ બની જાય છે. આપના અથાક પરિશ્રમનું આ પરિણામ છે. આપના પ્રયત્નમાં આપ ખૂબ આગળ વધો અને આપ તંદુરસ્તીપૂર્વક દીર્ઘાયુષ્ય ભોગવો એ જ પ્રાર્થના.

લિ. માલતી

મુંબઈ
૨૩-૪-૯૭

વિજય યશોદેવસૂરિ તરફથી

ધર્મસ્નેહી ડૉ. શ્રી કે. આર. ચન્દ્રા યોગ્ય

વિ. જિનાગમોની મૂલભાષા ઉપર એક વિદ્વત્ સંગોષ્ઠીનું આયોજન કરવામાં આવ્યું તે જાણીને અતિ આનંદ થયો.

આચારાંગ, પ્રથમ અધ્યયનનું વિમોચન સુવિખ્યાત, મારા પરિચિત શ્રી દલસુખભાઈ માલવણિયાનાં શુભહસ્તે થનાર છે તે ઘણા આનંદની વાત છે.

ત્યાં ઉપસ્થિત બન્ને આચાર્યોને અમારી વંદના જરૂર કહેજો.

તમારું ફંકશન ખૂબ સુંદર રીતે પાર પડે એવી શુભકામના.

યશોદેવસૂરિની

હાર્દિક શુભકામના.

Colette Caillat
Nalini Balbir

Parc Eiffel, F 92310
SEVRES, France
15, April 1997

Dear friends,

We are delighted to learn that a seminar concerned with the language of the Jain Āgamas, and other Middle Indo-Aryan languages is to be organised in Ahmedabad.

It is also a great pleasure to learn that Dr. Chandra's edition of Ācārāṅga will be released by our revered Pt. D.D. Malvania on this solemn occasion, which is blessed by the presence of His Holiness Revd. Acharya Shri Vijay Suryodayasurishwarji and Vijay Shilchandrasuriji, and attended by so many renowned scholars.

May we be permitted to express our sincere congratulations and all our heartiest wishes for the success of the function to be held on 27th-28th of April 1997.

Nalini Balbir

Colette Caillat

To : The Seminar Organizers,
Jināgamõ kī Mūlabhāṣā par Vidvatsaṃgoṣṭhī,
c/o. Prakrit Jain Vidya Vikas Fund,
375, Saraswati Nagar, Ahmedabad.

SOAS
University of London

16-4-97

Thank you for informing me of the Seminar on the Original Language of the Jain Canonical Texts that is scheduled to take place shortly in Ahmedabad. **You are to be congratulated on the selection and range of topics, and on the timing of the conference at this important juncture in Jain Studies.**

My colleagues and I hope that, by subsequent publication of the proceedings, it will encourage and facilitate more widespread study, publication, and discussion of the primary manuscript sources. We would also wish to convey our cogratulations to Dr. K. R. Chandra **on the appearance of his stimulating re-appraisal of the linguistic form of the text of Ācārāṅga.**

J. C. Wright

भूमिका

– प्रो. सागरमल जैन

विद्वज्जनों के लिए यह प्रसन्नता का विषय है कि प्रभावक जैनाचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरीश्वरजी एवं आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी के पावन सान्निध्य में "जिनागमों की मूल भाषा" पर दिनांक २७-२८ अप्रैल १९९७ को अहमदाबाद में आयोजित विद्वत्-संगोष्ठी में पठित निबन्धों का प्रकाशन किया जा रहा है। इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए आचार्य श्रीविजयशीलचन्द्रसूरिजी के निर्देश पर आदरणीय डॉ. के. ऋषभ चन्द्र ने मुझसे आग्रह किया। अतः सर्वप्रथम मैं आचार्यप्रवर, डॉ. चन्द्रा एवं प्रकाशक संस्था के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगा कि उन्होंने प्राकृत भाषा के अनेक वरिष्ठ विद्वानों के होते हुए भी मुझ जैसे प्राकृत भाषाओं के साहित्यरूपी महासागर में मात्र चंचुपात करने वाले व्यक्ति को यह दायित्वपूर्ण कार्य सौंपा।

इस संगोष्ठी में पठित निबन्धों के संबंध में विशेष गम्भीर चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आखिर इस संगोष्ठी की आवश्यकता क्या थी ? विगत पच्चीस सौ वर्ष के इतिहास में सामान्यतया जैन धर्म की सभी परम्पराएँ और उनके सभी विद्वान जिनागमों की मूल भाषा को अर्धमागधी के रूप में स्वीकार करते आये हैं, किन्तु दुर्भाग्य से इस निर्विवादित विषय को भी कुछ विद्वानों ने विगत पाँच वर्षों में विवाद के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया है। अब यह कहा जाने लगा है कि "जिनागमों की मूल भाषा" अर्धमागधी नहीं, शौरसेनी प्राकृत है और श्वेताम्बर परंपरा में मान्य सभी अर्धमागधी आगम भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत में रचित थे, जिन्हें कालान्तर में अर्धमागधी में रूपान्तरित कर दिया गया है। इस अनर्गल दुष्प्रचार से न केवल अर्धमागधी आगमों में आस्था रखने वाला श्वेताम्बर समाज आहत हुआ, अपितु प्राकृत भाषा के सम्प्रदाय निरपेक्ष तटस्थ विद्वान भी ऐसे आधारहीन मन्तव्यों और लेखनों से उद्वेलित हुए हैं। फलतः सभी ने मिलकर यह निश्चय किया कि इस भ्रान्त अवधारणा की समुचित समीक्षा की जानी चाहिए।

इसी संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि विगत कुछ वर्षों से ''जिनागमों की मूल भाषा'' के संदर्भ में दशाब्दियों से शोधरत, प्राकृत भाषा के वरिष्ठ विद्वान प्रो.के. आर. चन्द्रा की उन स्थापनाओं पर भी विचार-विमर्श करना आवश्यक था, जो अर्धमागधी आगमों की भाषा के मूल स्वरूप की खोज़ के श्रमसाध्य कार्य में लगे हुए हैं। अतः इस अवसर पर उनके द्वारा सम्पादित एवं ''प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड'' द्वारा प्रकाशित 'आचारांग' के प्रथम अध्ययन की मूल भाषा के स्वरूप के सम्यक् मूल्यांकन एवं उसकी समीक्षा का भी प्रयास किया गया। इस प्रकार इस संगोष्ठी का दोहरा प्रयोजन था — प्रथम प्राचीन अर्धमागधी भाषा के स्वरूप का निर्धारण करना और दूसरा अर्धमागधी ही 'जिनागमों' की मूल भाषा रही है इस तथ्य की सम्पुष्टि करना।

इस संगोष्ठी में प्राकृत भाषा एवं जैन विद्या के अनेक मूर्धन्य एवं वरिष्ठ विद्वान जैसे — पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, डॉ. सत्यरंजन बेनर्जी, प्रो. मधुसूदन ढाँकी, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. रामप्रकाश पोद्दार, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. एन. एम. कंसारा, डॉ. वे. ऋषभ चन्द्र आदि समुपस्थित थे। इस संगोष्ठी की दूसरी विशेषता यह भी थी कि इसमें जैन धर्म के सभी संप्रदायों -दिगम्बर, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि के विद्वानों और जिज्ञासु सामान्य जनों की उपस्थिति थी। साथ ही सम्प्रदाय निरपेक्ष तटस्थ अजैन विद्वानों ने भी अपनी उपस्थिति से इस संगोष्ठी को गरिमा प्रदान की। इस प्रकार यह संगोष्ठी किसी एक पंथ और संप्रदाय से संबंधित न होकर सार्वजनीन संगोष्ठी थी।

मात्र भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, अपितु अनेक विदेशी विद्वानों ने भी इस संगोष्ठी के विषय की मूल्यवत्ता और आवश्यकता का अपने पत्रों के माध्यम से समर्थन किया है। इन विदेशी विद्वानों में प्रो. जे.सी. राईट, (लण्डन) (Prof. J.C. Wright, London), प्रो. के. आर. नॉरमन, (इंग्लैंड) (Prof. K.R. Norman, England), प्रो. डब्ल्यू. बी. बोलेएँ, (हाइडलबर्ग, जर्मनी), (Prof. W.B. Bollee, Heidelberg, Germany), प्रो. पॉल डण्डास, (एडिनबरो) (Prof. Paul Dundas, Edinburg,Scotland) और प्रो. रोयस वाइल्स, आस्ट्रेलियन नेशनल युनिवर्सिटी, (Prof. Royce Wiles, Canberra, Australia), आदि प्रमुख हैं। भारतीय

विद्याओं के विशिष्ट विदेशी विद्वान् प्रो. के. आर. नॉरमन ने तो अपने पत्र में स्पष्ट रूप से यह भी लिखा है कि 'जिनागमों' की मूल भाषा अर्धमागधी ही थी, किन्तु यह अर्धमागधी आगमों के उपलब्ध संस्करणों की महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी की अपेक्षा क्वचित् भिन्न एवं प्राचीन थी और इसे आर्ष अर्धमागधी कहा जा सकता है। आगे वे लिखते हैं कि साथ ही साथ मैं यह भी मानता हूँ कि बाद में यह आर्ष अर्धमागधी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई है। उपलब्ध शौरसेनी आगम तो इन महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी आगमों से भी अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। पत्र के अन्त में उन्होंने यह अपेक्षा की है कि इस संगोष्ठी में पठित आलेखों के प्रकाशित होने पर यदि उसकी एक प्रति मुझे मिलेगी तो विशेष प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार अन्य विदेशी विद्वानों ने भी इस संगोष्ठी की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए प्रो. के. ऋषभ चन्द्र के प्रयत्नों की भूरि भूरि प्रशंसा की हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की यह भी अपेक्षा रही है कि जो आलेख हिन्दी या प्रान्तीय भाषाओं में हैं उनका अंग्रेजी अनुवाद अथवा अंग्रेजी सार-संक्षेप भी छापा-जाय। मैं समझता हूँ कि इस भूमिका के अंग्रेजी अनुवाद से यह पूर्ति हो जाएगी।

प्रस्तुत संगोष्ठी में विद्वानों ने अर्धमागधी भाषा के प्राचीनतम स्वरूप के निर्धारण हेतु न केवल प्रो. के. आर. चन्द्रा के कार्यों की संस्तुति की, अपितु ऐसे प्रयत्नों की निरन्तरता बनी रहे इस पर भी बल दिया। इस संगोष्ठी में प्रस्तुत शोधपत्रों के स्तर के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह संगोष्ठी अपने उद्देश्य की संपूर्ति में एक सफल संगोष्ठी रही है। इस संगोष्ठी में प्रस्तुत सभी महत्त्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत कृति में प्रकाशित किये ही जा रहे हैं, अतः उनकी विस्तृत विवेचना एवं समीक्षा तो यहाँ अपेक्षित नहीं है फिर भी इस भूमिका में उन शोधपत्रों के निष्कर्षों का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण और मूल्यांकन तो आवश्यक है ही।

यद्यपि पं. दलसुखभाई मालवणिया, आदि कुछ विद्वानों के आलेख प्रकाशनार्थ प्राप्त नहीं हो सके, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत मौखिक वक्तव्यों ने, न केवल संगोष्ठी में समुपस्थित विद्वानों का यथेष्ट मार्गदर्शन किया, अपितु अर्धमागधी ही 'जिनागमों' की मूल भाषा है इस तथ्य को सिद्ध भी किया। इसी प्रकार

अनेक विदेशी विद्वानों ने भी अपने पत्रों के माध्यम से 'जिनागमों' की मूल भाषा अर्धमागधी के प्राचीन स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में प्रो. के. आर. चन्द्रा के कार्यों की सराहना की और गोष्ठी के मुख्य विचार-बिन्दु की महत्ता स्पष्ट की हैं। उनके पत्र हमारे लिए निश्चित ही प्रेरणास्रोत हैं।

संगोष्ठी के सम्बन्ध में इस सामान्य चर्चा के पश्चात् अब हम संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों के मुख्य प्रतिपाद्य-बिन्दुओं की चर्चा के साथ-साथ आवश्यक स्थितियों में उनकी सम्यक् समीक्षा भी प्रस्तुत करेंगे। इस संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख मुख्यतः अंग्रेजी और हिन्दी एवं गुजराती ऐसे दो खण्डों में विभाजित हैं। इसके आंग्लभाषा खण्ड के अन्तर्गत प्रो. हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी, प्रो. सत्यरंजन बेनर्जी, डॉ. रामप्रकाश पोद्दार, डॉ. के.आर. चन्द्रा, डॉ. एन. एम कंसारा, और डॉ. दीनानाथ शर्मा - इन छः विद्वानों के आलेख समाविष्ट हैं।

इस खण्ड से पूर्व डॉ. के. आर. चन्द्रा द्वारा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत जो आलेख 'विषय-प्रतिष्ठापन' के रूप में लिखा गया है इसमें प्रो. चन्द्रा ने यह प्रतिपादित किया है कि 'जिनागमों' की मूल भाषा अर्धमागधी ही थी, किन्तु कालान्तर में हुई विविध वाचनाओं के फलस्वरूप उस पर किंचित् रूप से मध्यकालीन प्राकृत का और विशेष रूप से महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आया है। फिर भी वर्तमान में प्राप्य अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में उपलब्ध शब्द-रूपों और चूर्णि में दिए गए मूल पाठों से उस आर्ष अर्धमागधी का स्वरूप क्या था, इसका निर्धारण किया जा सकता है। उन्होंने अपने इस आलेख में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के मूल भाषायी स्वरूप और परिवर्तित भाषायी स्वरूप का एक तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि कालान्तर में यह आर्ष अर्धमागधी किस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई है। वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि चूर्णि और ताडपत्रीय एवं कागज की हस्तप्रतों में प्राचीन पाठ उपलब्ध होते हुए भी परवर्ती काल के प्राकृत व्याकरण के नियमों के प्रभाव से उनकी भाषा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। अपने आलेख में उन्होंने "प्रकृति : शौरसेनी" सूत्र का वास्तविक अर्थ क्या है इसे समझाने का सम्यक् प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि में यहाँ 'प्रकृति : शौरसेनी' का अर्थ मात्र इतना है कि पैशाची या मागधी भाषा के शब्द-रूपों को समझने के लिए शौरसेनी के

शब्द रूपों को आधार माना जा रहा है। आगे वे लिखते हैं कि व्याकरण के किसी भी सूत्र को उसके सन्दर्भ से अलग करके अपनी मनगढंत मिथ्या मान्यता के समर्थन में उसकी व्याख्या करना विद्वानों के लिए उचित और शोभनीय नहीं है। साम्प्रदायिक एवं अविद्याकीय अभिनिवेश से प्रेरित होकर वितथ (असत्य) का प्रचार करने से कोई भी व्यक्ति प्रकाण्ड विद्वान् नहीं हो जाता है। इस खण्ड के प्रारंभ में प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् प्रो. हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी ने अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत अपने विद्वत्तापूर्ण आलेख में 'मध्यकालीन आर्य-भाषाओं के इतिहास एवं उनके विकास' (A Few Observations on the History and Development of MIA. Languages and Dialects) पर प्रकाश डाला है। उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी भाषा का स्वरूप अथवा उसमें निबद्ध किसी ऐसे ग्रन्थ की भाषा का स्वरूप शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से हस्तांतरित होता हुआ कालक्रम में पर्याप्त रूप से बदल जाता है। भाषायी स्वरूप की इस परिवर्तनशीलता के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने मध्यकालीन आर्य भाषा को तीन भागों में विभाजित किया हैं :- (१) प्राचीन (२) मध्यकालिक और (३) उत्तरकालीन। उनके अनुसार प्राचीन विभाग में मागधी, अर्धमागधी, गंधारी और अशोककालीन विभिन्न बोलियों एवं अशोक के अभिलेखों की प्राकृत भाषाएँ समाहित होती हैं। मध्यकालिक विभाग के अन्तर्गत आर्ष महाराष्ट्री, परवर्ती साहित्यिक महाराष्ट्री, पैशाची, नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतें, जैसे – शौरसेनी, मागधी आदि तथा उस युग की अन्य लोक बोलियों का समावेश होता है। जबकि उत्तरकालीन विभाग विभिन्न अपभ्रंशों का प्रतिनिधित्व करता है। शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यह है कि नाटकों और परवर्ती सट्टकों में जो शौरसेनी भाषा पाई जाती है वह उस काल में नाटकों के अभिमंचन के समय स्त्री पात्रों, बालकों, दास-दासियों, आदि के द्वारा बोली जाने वाली प्राकृत है।

किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नाटकों में प्रयुक्त यह शौरसेनी उस काल में मथुरा क्षेत्र में सामान्यतः बोली जाने वाली भाषा से पूर्णतः समरूप नहीं है। शौरसेनी की जिन दो-तीन विशेषताओं का निर्देश व्याकरण के ग्रन्थों में किया जाता है वे मात्र उस युग के नाटक-लेखकों के मार्गदर्शन

के लिए है। उस युग की क्षेत्रीय लोकबोली में तो उनकी अपेक्षा अनेक भिन्नताएँ रही होंगी।

अन्त में वे लिखते हैं कि जो लोग शौरसेनी को ही प्राचीनतम प्राकृत मानते हैं वे मध्यकालीन आर्यभाषा के विकास के इतिहास से अनभिज्ञ हैं।

भाषा-विज्ञान और प्राकृत भाषा के वरिष्ठतम विद्वान् प्रो. सत्यरंजन बेनर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता का आलेख 'जिनागमों के सम्पादन की समस्याओं' (Jaina Āgama Texts and Their Problems in Editing) के संदर्भ में है। अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत अपने इस आलेख में उन्होंने जैनागमों के प्राचीन पाठों के पुनर्निर्धारण को एक कठिन समस्या बताया है। वे स्पष्टत: यह मानते हैं कि अर्धमागधी आगमों में प्रतिलिपिकारों के भाषा-संबंधी अज्ञान अथवा उनकी क्षेत्रीय भाषाओं एवं तत्कालीन भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप अनेक पाठान्तर अस्तित्व में आ गये हैं। साथ ही उन्होंने अपने इस आलेख में यह भी बताया है कि न केवल प्रतिलिपिकारों के अज्ञान अथवा उनकी अपनी भाषा के प्रभाव के कारण, अपितु कभी-कभी अक्षरविन्यास की निकटता के कारण भी पाठान्तर अस्तित्व में आ जाते हैं। उदाहरण के रूप में प्राचीन ब्राह्मीलिपि में "न" और "ण", "य" और "थ", "व" और "च", "ष" और "ख", आदि के अक्षरविन्यास में इतने कम अन्तर रहे हुए थे कि प्रतिलिपिकारों को स्वभाविक रूप से भ्रान्ति हो जाती थी।

उन्होंने अपने आलेख में इस तथ्य को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि 'दिगम्बर आगमों' की शौरसेनी नाटकों की शौरसेनी की अपेक्षा भिन्न है और इसीलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उसके लिए जैन शौरसेनी शब्द का प्रयोग किया हैं। प्रो. बेनर्जी स्पष्ट रूप से इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि षट्खण्डागम आदि दिगम्बर परम्परा के जैन ग्रन्थ, जिसं शौरसेनी प्राकृत में उपलब्ध हो रहे हैं, उनकी वह भाषा न केवल अर्धमागधी से अपितु महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित है, क्योंकि उनमें 'य' श्रुति बहुलता से प्राप्त होती है, किन्तु महाराष्ट्री की इस "य" श्रुति की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रो. बेनर्जी अधिक आश्वस्त प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि "य" श्रुति का निर्देश तो महर्षि पाणिनि (ई. पू. ५००) तक ने किया है, यद्यपि पालि भाषा में "य" श्रुति का

नियमतः अभाव है, किन्तु प्राकृत में "य" श्रुति की जो बहुलता है, वह प्राचीन ही है, अर्वाचीन नहीं।

प्राकृत संस्थान, वैशाली के पूर्व निदेशक तथा प्राकृत भाषा के विद्वान् डॉ. रामप्रकाश पोद्दार का आलेख आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के "प्रकृतिः संस्कृतम्" नामक (The Myth of Prakṛtiḥ Saṁskṛtam) सूत्र की व्याख्या की समस्या से सम्बन्धित है। अपने आलेख के प्रारम्भ में उन्होंने "प्रकृति" शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार किया हैं। डॉ. पोद्दार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में "प्रकृति" का अर्थ शब्द का "मूल धातु" (root) है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं कि तद्भव शब्द का अपने प्राकृत स्वरूप में आने के पूर्व संस्कृत रूप क्या था और व्याकरण के किन नियमों के आधार पर ध्वनि-परिवर्तन द्वारा वह अपने वर्तमान प्राकृत रूप में आया है, यह बताना ही प्राकृत व्याकरण में 'प्रकृति' शब्द का प्रयोजन है।

इस प्रकार डॉ. पोद्दार के अनुसार यहाँ हेमचन्द्र के द्वारा संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि प्राकृत व्याकरण में तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों के आधार से ही बताई जाती है। साथ ही साथ वे स्पष्ट रूप से यह भी स्वीकार करते हैं कि देश्य शब्दों के सन्दर्भ में हेमचन्द्र का यह सूत्र लागू नहीं होता है। अतः इस सूत्र में 'प्रकृति' का अर्थ अति सीमित है।

आगे वे लिखते हैं कि भाषा का विकास विशिष्ट जनों और जनसाधारण-इन दो आधारों पर होता है। उनकी दृष्टि में जहाँ संस्कृत विशिष्ट जनों की भाषा है, वहाँ प्राकृत जनसाधारण की भाषा है। पुनः जो जनसाधारण की भाषा होती है वह अकृत्रिम होती है, वह व्याकरण के नियमों से पूर्णतः आबद्ध होकर नहीं चलती है। इसीलिए हेमचन्द्र ने प्राकृत को 'आर्ष' और 'बहुलम्' कहा है। उसका तात्पर्य है कि अपने शब्द-रूपों के सम्बन्ध में प्राकृत विकल्प-बहुल एवं प्राचीन भाषा है।

डॉ. पोद्दार के अनुसार अशोक के काल तक इस भाषा का विस्तार सम्पूर्ण आर्यावर्त एवं सुदूर दक्षिण तक हो चुका था और पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों के इसके शब्द-रूपों में कुछ ध्वनि-परिवर्तनों को छोड़कर सामान्यतया

इसके भाषिक स्वरूप में एकरूपता ही देखी जाती है। इस भाषा का प्राचीनतम रूप अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है। ये अभिलेख सम्पूर्ण आर्यावर्त और सुदूर दक्षिण भारत तक पाये जाते हैं। अशोक अपने को मागध राजा कहता था, अतः उसके अभिलेखों की यह भाषा मागधी कहलाई। वस्तुतः मागधी ही मध्यकालीन प्राचीन आर्यभाषा थी।

डॉ. पोद्दार का यह भी मानना है कि शुंगों के उद्भव और मौर्य के पतन के परिणाम-स्वरूप भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र पूर्व भारत से हटकर पश्चिम की ओर मथुरा अर्थात् शौरसेन प्रदेश बना और मागधी के स्थान पर शौरसेनी मध्यदेशीय आर्यभाषा बनी। मगध के इस पतन के परिणामस्वरूप मागधी की प्रतिष्ठा भी धूमिल हो गयी। यहाँ तक कि अशोक के लिए आदर के साथ प्रयुक्त होने वाला '**देवानांप्रिय**' जैसा विशेषण भी 'मूर्ख' का पर्यायवाची बन गया। मागधी भाषा की इसी अप्रतिष्ठा के कारण '**बुद्धवचन**' को जो मूलतः मागधी प्राकृत में निबद्ध था 'पालि' का स्वरूप ग्रहण करना पड़ा। इसी प्रकार जैन आगमों की मागधी प्राकृत भी अन्य क्षेत्रीय शब्द-रूपों को स्वीकार करके अर्धमागधी बन गई। दूसरी ओर मागधी के अप्रतिष्ठित होने पर अन्य प्रादेशिक प्राकृतें, अब संस्कृत से अपनी निकटता जोड़कर विस्तार पाने लगीं। इस प्रकार प्राकृत का संस्कृत के साथ जो विवाह-सम्बन्ध हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप धीरे-धीरे संस्कृत और संस्कृत के व्याकरण प्राकृत भाषा पर हावी होने लगे। फलतः प्राकृतों को संस्कृत शब्द-रूपों एवं संस्कृत के व्याकरणों के आधार पर ही समझा और समझाया जाने लगा। यहाँ डॉ. पोद्दार के प्रतिपादन से यह भी फलित होता है कि प्राकृत की विभिन्न शाखाएँ यथा अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश मूलतः मागधी के पश्चात् ही देशीय और कालिक संस्करणों के रूप में अस्तित्व में आई हैं और इस प्रकार मूलतः मागधी ही प्राचीनतम प्राकृत भाषा है।

अपने आलेख के अन्त में डॉ. पोद्दार यह स्वीकार करते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र के 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्' इस सूत्र का तात्पर्य अति सीमित है और केवल तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति बताने के लिए ही है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है

या प्राकृत की 'योनि' संस्कृत है । आगे वे स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि राजशेखर ने 'बालरामायण' में प्राकृत को 'योनिः किल संस्कृतस्य' कहकर यही सिद्ध किया है कि प्राकृत से ही संस्कृत का जन्म हुआ है । नमिसाधु ने भी रुद्रट (२/१२) की व्याख्या में भी यही मत व्यक्त किया है । वस्तुतः स्वयं संस्कृत शब्द ही इस तथ्य को सूचित करता है कि प्राकृत भाषाओं अर्थात् लोकबोलियों को संस्कारित करके ही संस्कृत बनी है । अतः इस सूत्र के आधार पर प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न मानना एक भ्रान्ति है ।

प्रो. के. आर. चन्द्रा ने अपने अंग्रेजी भाषा में निबद्ध आलेख Place of Ardhamāgadhī and Śauraseni Languages of Jain Canonical Works in the Evolution of MIA. Languages में जैन आगमों की अर्धमागधी और शौरसेनी भाषा का मध्यकालीन आर्यभाषा के विकास-क्रम में क्या स्थान है, इसकी चर्चा करते हुए शौरसेनी की अपेक्षा अर्धमागधी को प्राचीन सिद्ध किया है । इस हेतु उन्होंने अर्धमागधी के प्रतिनिधिग्रन्थ 'आचारांग', शौरसेनी के प्रतिनिधिग्रन्थ 'प्रवचनसार' के शब्द-रूपों की पालि और अशोक के अभिलेखों की भाषा के साथ तुलना की हैं । उन्होंने लगभग सौ से अधिक शब्दों को लिया हैं और फिर तुलनात्मक रूप से यह दिखाया हैं कि वे शब्द अर्धमागधी, शौरसेनी, पालि और अशोक के अभिलेखों में किन-किन रूपों में उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार उन्होंने उन शब्द-रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया हैं । इन शब्द-रूपों की अर्धमागधी से ८०% से अधिक की निकटता है वहाँ उनकी शौरसेनी प्राकृत के शब्दरूपों से मात्र २०% से ३०% तक की निकटता सिद्ध होती है । इस तुलनात्मक चर्चा के आधार पर उन्होंने कुछ निष्कर्ष भी निकाले हैं :

(१) अर्धमागधी, पालि और अशोक के अभिलेखों की भाषा में दन्त्य "न् " यथावत् रहता है जबकि शौरसेनी में उसके स्थान पर मूर्धन्य "ण्" हो जाता है ।

(२) प्रारम्भिक और मध्यवर्ती "ज्ञ्" का पालि और अशोक के अभिलेखों की भाषा में "ञ्" या "ञ्ञ्" होता है, किन्तु कहीं-कहीं और मुख्यतः पूर्वी क्षेत्र में तो "न्" या "न्न्" भी देखा जाता है जो अर्धमागधी का रूप है । इसके विपरीत शौरसेनी प्राकृत में 'ज्ञ्' का 'ण्' या 'ण्ण्'रूप मिलता है जो पालि एवं

अशोक के अभिलेखों में प्रायः अनुपस्थित है। डॉ. चन्द्रा के अनुसार 'ञ्" के स्थान पर "ण्" या "ण्ण्" का प्रयोग ई. सन् की प्रथम शताब्दी के बाद ही देखा जाता है।

(३) इसी प्रकार √ भू-धातु का 'भव' रूप अर्धमागधी, पालि और अशोक के अभिलेखों में सामान्यतया पाया जाता है यद्यपि 'भव' के स्थान पर 'हव" या "हो" रूप भी पालि और अशोक के अभिलेखों में कहीं-कहीं पाया जाता है फिर भी उनका "हो" या "हव" रूप परवर्ती काल में ही अधिक लोकप्रिय हुआ है।

(४) मध्यवर्ती "क्" अर्धमागधी में या तो उसी रूप में रहता है अथवा उसका "ग्" हो जाता है। अशोक के अभिलेखों में विशेषरूप से पूर्वी क्षेत्र के अभिलेखों में "क्" के स्थान पर "ग्" होने की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैन शौरसेनी में "क्" के स्थान पर "ग्" अथवा "क्" का लोप होकर उसके स्थान पर "य्" श्रुति भी देखी जाती है, जो वस्तुतः परवर्ती प्राकृत का लक्षण है, क्योंकि पालि भाषा में यह प्रवृत्ति क्वचित् ही पायी जाती है।

(५) मध्यवर्ती "त्" सामान्यतया मागधी, अर्धमागधी, पालि और अशोक के अभिलेखों में यथावत् रहता है यद्यपि अशोक के उत्तरी और पश्चिमोत्तरी अभिलेखों में कही-कहीं विरल रूप में उसके स्थान पर "द्" पाया जाता है जबकि शौरसेनी की तो यह सामान्य प्रवृत्ति है। उसमें सर्वत्र मध्यवर्ती असंयुक्त "त्" का "द्" होता है। प्रवचनसार की शौरसेनी में कहीं-कहीं "त्" के स्थान पर"य्" श्रुति भी मिलती है, किन्तु यह तो परवर्ती प्राकृत का लक्षण है और उसी के प्रभाव से शौरसेनी के जैन ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति आयी है।

(६) "कृत" शब्द के स्थान पर अर्धमागधी में "कड" मिलता है अशोक के अभिलेखों में उसके स्थान पर "कट" पाया जाता है। गिरनार के अभिलेखों में "कत" मिलता है। "कट" के "ट" का घोषीकरण "ड" के रूप में अर्धमागधी में पाया जाता है जबकि शौरसेनी में "कद" और "कय" रूप मिलते हैं।

इस प्रकार प्रो. के. ऋषभ चन्द्र ने अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध किया

है कि यद्यपि अशोक के उत्तरी, उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी क्षेत्रों के अभिलेखों में कही-कहीं शौरसेनी एवं महाराष्ट्री के सदृश नगण्य कुछ शब्द-रूप मिल जाते हैं फिर भी अशोक के अभिलेखों की भाषा की एवं पालि की जितनी निकटता अर्धमागधी आगमों की भाषा के साथ है उतनी शौरसेनी आगमों की भाषा के साथ नहीं है ।

प्राचीन भारतीय भाषाओं के विशिष्ट विद्वान् प्रो. डॉ. एन. एम. कंसारा ने अपने आलेख 'वैदिक छान्दस् से अर्धमागधी में गृहीत कुछ प्राचीन भाषा-तत्त्व' (A Glimpse of Some of the Archaic Linguisic Traits Inherited by Āgamic Ardhamāgadhī from Vedic Chāndas Speech) में यह बताने का प्रयास किया है कि वैदिक छान्दस् (वैदिक संस्कृत) की अनेक प्रवृत्तियाँ आगमिक अर्धमागधी में भी यथावत् या आंशिक रूप से प्राप्त होती हैं। ज्ञातव्य है कि वैदिक छान्दस् अर्थात् वैदिक संस्कृत की अनेक विशेषताएँ परवर्ती पाणिनि कालीन संस्कृत में उपलब्ध नहीं होती हैं, जिनका संकेत 'बहुलं छान्दसि' कहकर स्वयं पाणिनि ने किया है । वैदिक संस्कृत की जो अनेक प्रवृत्तियाँ अर्धमागधी में पाई जाती हैं, प्रो. कंसारा ने उनमें से निम्न प्रवृत्तियों का निर्देश अपने आलेख में किया है-

१. वैदिक छान्दस् के समान अधमागधी में अनुस्वार का आगम देखा जाता है ।

२. वैदिक छान्दस् में र, ल, व, ह जैसे कंठ्य व्यञ्जनों के पश्चात् आने वाला मध्यवर्ती दन्त्य 'न्' मूर्धन्य 'ण्' में बदल जाता है । (अर्धमागधी में यह प्रवृत्ति विकल्प से पाई जाती है, किन्तु परवर्ती शौरसेनी और महाराष्ट्री में तो सर्वत्र ही दन्त्य 'न्' का मूर्धन्य 'ण्' होता है) ।

३. शुक्लयजुर्वेद में 'ष् या क्ष् =क्ष' का उच्चारण 'ख्' में किया जाता है। अर्धमागधी का तो यह सामान्य लक्षण है कि उसमें 'क्ष' का 'ख्' या 'क्ख्' हो जाता है - जैसे 'खत्तिय', जक्ख, आदि (=क्षत्रिय, यक्ष) ।

४. शुक्ल यजुर्वेद में प्रारम्भिक 'य' का उच्चारण 'ज' होता है और अर्धमागधी में भी 'य्' का 'ज्' होता है जैसे जंत, जक्ख, जत्ता, आदि (=यन्त्र, यक्ष, यात्रा) ।

इसी प्रकार प्रो. कंसारा ने वैदिक (छान्दस्) संस्कृत की अर्धमागधी से समरूपता के और भी अनेक उदाहरण दिये हैं। इन समरूपताओं के आधार पर प्रो. कंसारा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वैदिक संस्कृत से ही मागधी, अर्धमागधी शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि प्राकृतें विकसित हुई। अपने निष्कर्ष की पुष्टि में प्रो.कंसारा आचार्य हेमचन्द्र का 'प्रकृतिः संस्कृतम्' नामक सूत्र भी उद्धृत करते हैं। किन्तु उनका यह निष्कर्ष भ्रान्त ही है क्योंकि 'प्रकृतिः संस्कृतम्' इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि प्राकृतें संस्कृत से उत्पन्न हुई है। जैसा कि इसी सेमिनार में अन्य विद्वानों ने अपने आलेखों में सिद्ध किया है – 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थमात्र इतना ही है कि तद्भव शब्दों की प्राकृत व्याकरण के द्वारा व्युत्पत्ति समझाने के लिए संस्कृत भाषा के शब्दरूपों को आधार माना गया है। वस्तुतः न केवल सभी प्राकृतें अपितु छान्दस् (वैदिक संस्कृत) भी मूलतः क्षेत्रीय बोलियों का संस्कारित रूप है, अतः मध्यकालीन बोलियों के जो सामान्य तत्त्व हैं वे इन सभी में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। सत्य तो यह है कि छान्दस् सहित सभी प्राकृतें छोटी-बड़ी बहनों के रूप में मध्यकालीन विभिन्न बोलियों से ही विकसित हुई हैं।

डॉ. दीनानाथ शर्मा का आलेख 'शौरसेनी प्राकृत भाषा की तुलना में अर्धमागधी भाषा में (उपलब्ध) प्राचीन भाषिक तत्त्व' (Old Linguistic Elements in the Ardhamāgadhī in Comparison with the Śauraseni) में अनेक तथ्यों, तर्कों, और प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि शौरसेनी की अपेक्षा अर्धमागधी में अधिक प्राचीन भाषिक तत्त्व पाये जाते हैं।

उन्होंने अपनी इस स्थापना के प्रमाण में अर्धमागधी आगमों के शब्द-रूपों की पालि-त्रिपिटक एवं अशोक के अभिलेखों की भाषा में उपलब्ध शब्द-रूपों से तुलना की हैं। उनके अनुसार मध्यवर्ती कठोर व्यञ्जनों यथा क्, त् एवं थ् के मृदुकरण की जो प्रवृत्ति है, जैसे 'लोक' का 'लोग' 'शरपातकम्' का 'सरपादगं' (सूत्रकृतांग १.४.२.३), 'अथ' का 'अध', आदि – वह इसमें कभी कभी पायी जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर विकल्प से 'द्' होने की प्रवृत्ति प्राचीन अर्धमागधी में भी रही है, अन्तर मात्र यह है कि जहाँ शौरसेनी में नियम से मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' होता है, वहाँ

अर्धमागधी में यह विकल्प से होता है । वैसे तो यह शौरसेनी का ही सामान्य लक्षण है जबकि अर्धमागधी में इसके प्रयोग क्वचित् ही मिलते हैं । फिर भी डॉ. दीनानाथ शर्मा द्वारा उद्घाटित यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है । इस से यह भी नहीं समझना चाहिए कि शौरसेनी से अर्धमागधी का विकास हुआ है । इसी प्रकार उन्होंने आत्मा के प्राचीन शब्द-रूपों 'अत्ता, आता, अत्पा' और परवर्ती शब्द रूपों 'आदा, अप्पा आया' आदि की चर्चा करके भी इसी तथ्य को पुष्ट किया है कि शौरसेनी की अपेक्षा अर्धमागधी प्राचीन भाषा है ।

प्रस्तुत कृति के द्वितीय हिन्दी-गुजराती विभाग में प्रो. सागरमल जैन, प्रो. मधुसूदन ढाँकी, समणी चिन्मय प्रज्ञा, प्रो. प्रेमसुमन जैन, सुश्री शोभना शाह, डॉ. जितेन्द्र शाह और डॉ. भारती शेलत के आलेख संग्रहीत हैं । अंग्रेजी आलेखों की अपेक्षा इन हिन्दी-गुजराती आलेखों की विशेषता यह है कि ये संगोष्ठी के प्रयोजन से संबंधित मूलभूत विषय का स्पर्श करते हैं ।

डॉ. सागरमल जैन के शोध-आलेख में 'जिनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' के सन्दर्भ में उठाये गए विभिन्न मुद्दों की विस्तार से समीक्षा की गई है । सर्वप्रथम भगवती, समवायांग, औपपातिक, आचारांगचूर्णि आदि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि जिनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी ही है । इस तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रप्राभृत-टीका आदि दिगम्बर ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये गये हैं । किन्तु वे यह भी मानते हैं कि आगमों की यह आर्ष-अर्धमागधी कालान्तर में हुई माथुरी और वलभी वाचनाओं में क्रमशः शौरसेनी, और महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दरूपों से प्रभावित हुई है । आचार्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना के समय लगभग ई. सन् की चतुर्थ शती में ये अर्धमागधी आगम शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित हुए थे । आगमों का यह शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण मथुरा-आगम के नाम से जाना गया और जैनधर्म के यापनीय सम्प्रदाय में मान्य रहा । डॉ. सागरमल जैन ने डॉ. नथमल टांटिया के नाम से प्राकृतविद्या में प्रस्तुत यह कथन-कि 'शौरसेनी आगम ही कालान्तर में अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गए' का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वस्तुतः अर्धमागधी आगम ही यापनीयों के द्वारा परवर्ती काल में शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित किए गए थे, न कि शौरसेनी

आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये थे । ज्ञातव्य है कि माथुरी वाचना के समकालिक नागार्जुन की वलभी वाचना में और उसके पश्चात् ई. सन् की पाँचवी शती में देवर्द्धिकी दूसरी वलभी वाचना में आगम महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए । उन्हीं महाराष्ट्री प्रभावित आगम ग्रंथो से शौरसेनी आगम तुल्य ग्रन्थों की रचना हुई । शौरसेनी के आगमतुल्य ग्रन्थों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्द-रूपों की विपुलता से भी यही सिद्ध होता है कि महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी आगमों के आधार से ही शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों की रचना हुई है । आज भी नन्दीसूत्र, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, आवश्यक-निर्युक्ति, आचारांगनिर्युक्ति आदि अर्धमागधी, आगमों एवं उनकी निर्युक्तियों की सैंकड़ों गाथाएँ अपने शौरसेनी प्रभावित भाषायी स्वरूप में शौरसेनी आगमों और आगमतुल्य ग्रन्थों में उपलब्ध हो रही हैं । इसी प्रकार उन्होंने अपने आलेख में प्रो. नथमल टांटिया के नाम से 'प्राकृत विद्या' में प्रचारित इस कथन की भी समीक्षा की है कि 'शौरसेनी भाषा पालि भाषा की जननी है । पहले बौद्ध ग्रन्थ जो शौरसेनी में थे उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया' । डॉ. सागरमल जैन ने इस आलेख में बौद्ध ग्रन्थों के साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ही यह सिद्ध किया है कि 'बुद्ध-वचन' मागधी प्राकृत में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके उन्हें 'पालि' भाषा में लिखा गया । साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि पालि भाषा मागधी का ही परिष्कृत रूप है और वह शौरसेनी की अपेक्षा अर्धमागधी के अधिक निकट है । ज्ञातव्य है कि शौरसेनी का विशिष्ट लक्षण असंयुक्त मध्यवर्ती "त" के स्थान पर "द" एवं "न" के स्थान पर सर्वत्र "ण" का पालि में प्रायः अभाव ही है ।

अपने आलेख की अग्रिम पंक्तियों में उन्होंने अर्धमागधी और शौरसेनी में प्राचीन कौन है ? इस तथ्य की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जिन दिगम्बर ग्रन्थों की शौरसेनी को अर्धमागधी से प्राचीन बताया जा रहा है उस शौरसेनी का भास के नाटकों के कुछ अंशों (ईसा की लगभग प्रारंभिक सदियाँ) के अतिरिक्त चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक कहीं अतापता भी नहीं है । मथुरा क्षेत्र जिसे शौरसेनी का उद्भव-स्थल कहा जाता है वहाँ भी अशोक के काल से लेकर शक और कुषाणकाल तक के शताधिक अभिलेखों में से एक में भी प्राकृत

व्याकरण में निर्दिष्ट शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण-युक्त शब्द-रूप नहीं पाए जाते हैं। उन अभिलेखों में कहीं भी न तो मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" हुआ है और न दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" ही पाया जाता है जो व्याकरण के अनुसार शौरसेनी की विशेषताएँ कही जाती हैं। इस प्रकार ठोस साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर इस आलेख में यह सिद्ध किया गया है कि जिनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी ही है, शौरसेनी आगम एवं आगमतुल्य ग्रन्थ इन्हीं अर्धमागधी आगमों के आधार पर निर्मित हुए हैं। परवर्तीकालीन शौरसेनी आगमों में जो महाराष्ट्रीप्रभावित शौरसेनी पाई जाती है वह आर्ष अर्धमागधी की अपेक्षा पर्याप्त रूप से परवर्ती है। अभिलेखीय और साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर शौरसेनी की प्राचीनता ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व सिद्ध नहीं होती है। जबकि अर्धमागधी कम से कम अशोक के अभिलेखों के काल से अर्थात् ई.पू. तीसरी - चौथी के पूर्व की है।

प्रो. डॉ. मधुसूदन ढाँकी ने 'पुरातत्त्व और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में शौरसेनी भाषा की प्राचीनता' नामक अपने आलेख में उसकी तथाकथित प्राचीनता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि 'यह तो जिन-शासन के लिए बड़े ही गौरव की बात है कि शौरसेनी प्राकृत आज से प्रायः ८४,००० वर्ष पूर्व की भाषा है और यदि ऐसा है तो फिर वह अर्धमागधी तो क्या, जगत की सभी ज्ञात-अज्ञात भाषाओं की जननी हो जाए तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है ? प्रो. ढाँकी ने ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम यह बताने का प्रयत्न किया है कि आज से ८४,००० वर्ष पूर्व भारत तो क्या समस्त पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ आदि मानव की बस्ती थी वहाँ पाषाण युग ही प्रर्वतमान रहा होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से मानव संस्कृति का उदय तो ईस्वी पूर्व. १०,००० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। शूरसेन प्रदेश में आज तक जितने भी उत्खनन हुए है उनमें कही भी ईसा पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी से पहले का कोई भी संकेत प्राप्त नहीं होता है।

मथुरा से जितने भी ब्राह्मण, बौद्ध और निर्ग्रन्थ परम्परा के उत्कीर्ण लेख मिले हैं उनमें सबसे प्राचीन ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की प्रथम शताब्दी के बीच के हैं किन्तु उनकी भाषा तो अर्धमागधी के सदृश है, जबकि उसे तो शौरसेनी भाषा के सदृश होना था, परन्तु अफसोस है कि ऐसा एक भी प्रमाण

नजर नहीं आता। पुनः वे लिखते हैं कि यदि अरिष्टनेमि का उपदेश शौरसेनी प्राकृत में रहा ऐसा माना जाये, तो फिर उनसे अनगिनत अरबों वर्ष पूर्व माने जाने वाले आदि (प्रथम) तीर्थंकर ऋषभ, जिनका जन्म अयोध्या में हुआ था तो क्या उनकी भाषा पुरानी अवधी थी ? अथवा अर्हत् पार्श्व जिनका जन्म वाराणसी में हुआ था क्या उनका उपदेश पुरानी भोजपुरी में था ? इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो. मधुसूदन ढाँकी अपनी व्यंगात्मक शैली में शौरसेनी भाषा की प्राचीनता के दावे की पुरातत्त्व और इतिहास के क्षेत्र में हुई शोधों के परिप्रेक्ष्य में धज्जियाँ उड़ाते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि शौरसेनी की प्राचीनता का दावा निराधार है। वह तो मागधी से परवर्ती ही सिद्ध होती है।

समणी चिन्मयप्रज्ञाजी 'आगमों की वर्तमान भाषा' नामक अपने आलेख में सर्वप्रथम अर्धमागधी शब्द के वास्तविक तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं कि अर्धमागधी वह है जिसमें व्याकरण की दृष्टि से मागधी भाषा के कुछ लक्षण पाए जाते हो और कुछ लक्षण नहीं पाए जाते हो तथा जिसमें मागधी शब्द-रूपों के साथ-साथ अन्य देश्य शब्द रूप भी मिलते हों। वस्तुतः जिस भाषा के शब्द-रूपों में मागधी के अतिरिक्त अन्य मध्यकालीन बोलियों के शब्द-रूप भी पाए जाते हों, वही अर्धमागधी है। हेमचन्द्र आदि प्राकृत व्याकरणविदों ने इसे आर्ष प्राकृत भी कहा हैं। इस प्रकार इस आलेख में चिन्मयप्रज्ञाजी ने अर्धमागधी के लक्षणों को निर्धारित करते हुए उसमें उपलब्ध अनेक आर्ष प्रयोगों और देशी शब्द-रूपों की उपस्थिति से उसकी प्राचीनता को भी सिद्ध किया हैं।

अपने आलेख के अन्त में वे यह सिद्ध करती हैं कि आगमों की भाषा में तत्कालीन अनेक देशी-भाषा के शब्द-रूपों के प्रयोग हैं, जो प्राकृत व्याकरणों के नियमों से सिद्ध नहीं होते हैं और जिनका उस संस्कृत से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसे प्राकृत व्याकरणकार प्राकृत की प्रकृति मानकर चले हैं। यद्यपि अपने निबन्ध के अन्त में वे यह अवश्य स्वीकार करती हैं कि आगमों की मूल भाषा तो अर्धमागधी ही थी, किन्तु जब देवर्द्धिगणी के द्वारा वलभी में उनका नया संस्करण तैयार किया गया तब आगमों की प्राचीन अर्धमागधी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई। अतः वर्तमान में उपलब्ध जिनागमों की भाषा न तो पूर्णतः अर्धमागधी है और न महाराष्ट्री, दूसरे शब्दों में वह महाराष्ट्री

प्रभावित अर्धमागधी हैं ।

प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन ने अपने आलेख "शौरसेनी प्राकृत में प्राचीन भाषा तत्त्व" के प्रारम्भ में शौरसेनी आगमों की प्राचीनता को सिद्ध करते हुए यह बताया है कि दिगम्बर जैन आचार्यों ने ई. पू. प्रथम शताब्दी में 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ की तथा ईसा की प्रथम शताब्दी में 'षट्खण्डागम' नामक ग्रन्थ की शौरसेनी प्राकृत में रचना की । इससे वे यह सिद्ध करते हैं कि शौरसेनी प्राकृत लगभग ई.पू. प्रथम शताब्दी में अपने अस्तित्व में आ गई थी और आगे बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक इस भाषा में ग्रन्थलेखन होता रहा है ।

यद्यपि उन्होंने परम्परा के अनुसार 'कषायप्राभृत' और 'षट्खण्डागम' को क्रमशः ईसा पू. प्रथम शती और ईसा की प्रथम शताब्दी में रखा हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने आलेख में कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है । कषायप्राभृत और षट्खण्डागम की विषय-वस्तु का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं । षट्खण्डागम स्पष्ट रूप से गुणस्थान सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और गुणस्थान का सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् लगभग-पांचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है, इसे मैंने अपनी कृति 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विवेचन' में सप्रमाण सिद्ध किया है । अतः प्रो. प्रेमसुमन जैन ने शौरसेनी आगमों का जो काल माना है, वह युक्तिसंगत नहीं है ।

प्रो. प्रेमसुमन जैन ने यह भी लिखा है कि शौरसेनी और मागधी प्राकृत के मेल से निर्मित यह अर्धमागधी, प्राकृत साहित्य के लिए नई भाषा होने के कारण इसके नाम का उल्लेख भी कुछ परवर्ती आगम ग्रन्थों में किया गया । किन्तु वे जिस शौरसेनी के मेल से अर्धमागधी को निर्मित मानते है वह षट्खण्डागम की शौरसेनी तो स्वयं ही अर्धमागधी और उससे भी परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित है । कषायपाहुड और षट्खण्डागम जैसे शौरसेनी के आगमतुल्य ग्रन्थों पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का कितना अधिक प्रभाव है, इसे तो प्रो. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन जैसे दिगम्बर विद्वानों ने स्वयं ही स्वीकार किया हैं । वस्तुतः जिस अर्धमागधी में आचारांग आदि प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थ लिखे गए थे उस अर्धमागधी के उद्भव काल तक तो शौरसेनी

प्राकृत का जन्म भी नहीं हुआ था ।

पुनः डॉ. प्रेमसुमन जैन का जो यह कहना कि महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है, यह भाषाशास्त्र की दृष्टि से कितना सत्य है, यह विचारणीय है । वस्तुतः जिस प्रकार शौरसेनी प्राकृत का विकास मध्यकालीन लोकबोली से है, उसी प्रकार महाराष्ट्री का विकास भी दक्षिण-पश्चिमी लोक-बोली से हुआ है । अन्य सभी प्राकृतें भी अपने अपने क्षेत्र की लोक-बोलियों से विकसित हुई हैं । इनमें कौन प्राचीन और कौन परवर्ती है, यह कहना अति कठिन है । लोकबोलियों के रूप मे वे सभी समकालिक हैं । मात्र यही नहीं साहित्यिक प्रमाण भी इन सबके समकालिक होने की सूचना देते हैं । इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना मैंने अपने आलेख में की है, पाठक-वृन्द उसे वहाँ देख सकते है ।

पुनः उन्होनें अपने आलेख में सामान्य प्राकृत को शौरसेनी प्राकृत कहा है किन्तु शौरसेनी मूल प्राकृत है और अन्य प्राकृतें उनसे विकसित हुई हैं, यह उनकी भ्रान्त धारणा हैं । वस्तुतः सभी प्राकृतें तत-तत् देश की लोक-बोलियों का ही संस्कारित एवं साहित्यिक रूप हैं । 'प्रकृतिः शौरसेनी'- नामक जिस सूत्र के आधार पर वे ऐसा दावा करते हैं, उसकी व्याख्या कितनी भ्रान्त है यह प्रस्तुत संगोष्ठी में प्रस्तुत मेरे और दूसरे अनेक विद्वानों के आलेखों से स्पष्ट किया गया है । स्वयं प्रो. प्रेमसुमन जैन भी यह स्वीकार करते हैं कि "दिगम्बर जैन ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत एवं नाटकों में प्रयुक्त नाटकीय शौरसेनी प्राकृत, उसी मूल शौरसेनी प्राकृत के परवर्ती रूप हैं जिनकी इन दोनों से समानता अधिक और भिन्नता कम है ; किन्तु मेरी दृष्टि में यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि दिगम्बर जैन ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत और नाटकों की शौरसेनी प्राकृत के अतिरिक्त क्या कोई तीसरी मूल शौरसेनी प्राकृत भी थी ? और यदि थी तो उसका क्या कोई साहित्यिक अथवा अभिलेखीय प्रमाण है ? वस्तुतः ऐसी मूल-शौरसेनी का तो कहीं कोई अता-पता नहीं है और यदि वह थी भी तो उसे मध्यकालीन लोक-बोली के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता है । प्राकृत के जो भी व्याकरण बने हैं वे केवल उन्हीं प्राकृतों की चर्चा करते हैं जिनका साहित्यिक यानी नाटकों में प्रयुक्त भाषा के रूप में अस्तित्व रहा है । अधिक क्या, कोई

भी प्राकृत व्याकरणकार अभिलेखीय प्राकृत के सम्बन्ध में कोई सूचना देता है क्या ? पुनः स्वयं उन्होंने अपने इस आलेख में ही यह भी स्वीकार किया है कि भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या ये सात भाषाएँ कही गई हैं । इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शौरसेनी के साथ-साथ प्राच्या, मागधी, अर्धमागधी, आवन्ती, दाक्षिणात्या आदि भाषाओं का भी अस्तित्व था । वस्तुतः आवन्ती और दक्षिणात्या ही महाराष्ट्री प्राकृत के पूर्व प्राचीन नाम है । यदि इन सब भाषाओं का साथ-साथ अस्तित्व था तो फिर इनको शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न कहना कौन सी बुद्धिमानी है ? वस्तुतः सभी प्राकृतें अपने अपने क्षेत्र की लोक-बोली के रूप में समानान्तर रूप से प्रचलित रही हैं । किन्तु साहित्यिक प्राकृत के रूप में उनमें कालक्रम माना जा सकता है, जिसे उनमें लिखित साहित्य के आधार पर निर्धारित किया गया है- यह क्रम है-मागधी और पालि से मिलती-जुलती अशोक के अभिलेखों की भाषा, अर्धमागधी★, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि ।

पुनः अपने आलेख में प्रो. प्रेमसुमन जैन यह भी प्रतिपादित करते हैं कि "इतिहास से स्पष्ट है कि शूरसेन जनपद का अस्तित्व इस देश में मगध भूभाग की स्थापना से प्राचीन है " किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण अपने आलेख में नहीं दिया है । क्या उनके पास ऐसा कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण है जिसे वे यह सिद्ध कर सकें कि मगध जनपद का अस्तित्व शूरसेन जनपद से परवर्ती है । जैन धर्म की दृष्टि से तो २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पूर्व ऋषभदेव

★ वैसे तो मागधी प्राकृत के ही रूपान्तर के रूप में पालि भाषा मानी जाती है । अर्धमागधी अपने नाम से ही मागधीप्रधान प्राकृत भाषा है । भगवान् महावीर के विहार और उपदेशों का क्षेत्र मुख्यतः तत्कालीन मगध देश और उसके सीमान्त प्रदेश (अर्थात् अंग, बंग, कलिंग (उत्कल) और कोशल राज्यों के कुछ भाग) रहे हैं । अतः प्रमुख तौर पर मागधी प्राकृत में इन अन्य प्रदेशों की बोलियों का कुछ अंश मिश्रित हो जाने से इसका नाम अर्धमागधी पड़ गया । वैसे प्राचीन पालि और प्राचीन अर्धमागधी की अमुक अमुक एक समान विशेषताएँ ध्यान में लें तो प्रतीत होगा कि उनका शिष्ट (पाणिनीय) संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है परंतु वे वैदिक छान्दस् भाषा के साथ गहरा सम्बन्ध रखती हैं और इस दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत अन्य प्राकृतों—शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि से प्राचीन मानी जाती है । – *के. आर. चन्द्र*

से लेकर प्रायः सभी तीर्थंकरों ने मगध या उसके निकटवर्ती प्रदेशों में ही जन्म लिया था, अरिष्टनेमि के काल में भी मगध-नरेश जरासंघ को प्रतिवासुदेव माना गया है। वे कृष्ण के मुख्य प्रतिद्वन्दी माने गये हैं। महावीर, बुद्ध एवं अशोक के काल में तो भारतीय संस्कृति का मूल केन्द्र मगध ही था और उसकी भाषा मागधी सम्पूर्ण आर्यावर्त और सुदूर दक्षिण में भी सुप्रचलित थी। अशोक के अभिलेख जो सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं, उसी मागधी में पाये जाते हैं। वस्तुतः मौर्यों के पतन के पश्चात् ही कुषाण और शकों के काल में यह केन्द्र पाटलिपुत्र (मगध) से मथुरा (शूरसेन-प्रदेश) में स्थानांतरित हुआ है और तभी शौरसेनी साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आयी।

यद्यपि अपने आलेख के अन्त में प्रो. प्रेमसुमन जैन ने डॉ. उपाध्ये का सन्दर्भ देते हुए स्पष्ट रूप से यह मान लिया है कि प्रवचनसार की भाषा में अर्धमागधी की कई विशेषताएँ सम्मिलित हैं। वस्तुतः न केवल प्रवचनसार में अपितु सभी शौरसेनी के प्राचीन जैन सिद्धान्तग्रन्थ अर्धमागधी और महाराष्ट्री से प्रभावित हैं। फिर भी प्रो. प्रेमसुमन का यह आग्रह कि अर्धमागधी, महाराष्ट्री, नाटकीय शौरसेनी—इन सबकी आधारभूत भाषा शौरसेनी प्राकृत रही है, कितना सत्य है, यह चिन्तनीय है। जिन दिगम्बर सिद्धान्तग्रन्थों में अर्धमागधी और परवर्ती महाराष्ट्री के शब्द-रूप एवं गाथाएँ प्रचुरता से उपलब्ध हों, उनकी शौरसेनी प्राकृत अर्धमागधी, महाराष्ट्री और नाटकों की शौरसेनी का आधार कैसे हो सकती है ? वे जिस मध्यकालीन भाषा को आधारभूत शौरसेनी मान रहे हैं, क्या उस तथाकथित शौरसेनी का एक भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है ? सत्य तो यह है कि वह एक क्षेत्रीय बोली के अतिरिक्त कुछ भी नहीं थी और ऐसी क्षेत्रीय बोलियाँ तो सम्पूर्ण भारत में सेंकड़ों थीं। हाँ, इसमें इतना सत्य अवश्य है कि इन क्षेत्रीय बोलियों के आधार पर ही कालक्रम में छान्दस्, मागधी, पालि, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री जैसी प्राकृतों और विभिन्न अपभ्रंशों का जन्म हुआ है। जिन प्राचीन भाषातत्त्वों की उपस्थिति वे शौरसेनी में दिखा रहे हैं वे प्राचीन भाषातत्त्व अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि दूसरी प्राकृतों में भी देखे जा सकते हैं। अतः इन आधारों पर साहित्यिक शौरसेनी ईसा की दूसरी शती से पूर्व सिद्ध नहीं होती है।

सुश्री शोभना आर. शाह का शोध-आलेख 'खारवेल के प्राचीन शिलालेख की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत की तुलना' भी प्रस्तुत संगोष्ठी के विषय से संबन्धित है। अपने इस आलेख के प्रारम्भ में उन्होंने महावीर के जन्म-स्थान और उनके मुख्य विचरण-क्षेत्र के आधार पर यह माना है कि उनकी भाषा उस प्रदेश की और उसके आस-पास के प्रदेशों की लोकभाषा के शब्द-रूपों से प्रभावित मागधी रही होगी। सम्भवतः इसी आधार पर उसे अर्धमागधी कहा जाता है। महावीर की इस भाषा की एक झलक हमें आचारांग जैसे प्राचीन आगम-ग्रंथ में मिलती है। अतः इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए उन्होंने आचारांग के डॉ. चन्द्रा के सम्पादित संस्करण को अपना आधार माना है। साथ ही शौरसेनी के आधारग्रन्थ के रूप में उन्होंने प्रवचनसार के प्रो. उपाध्ये के संस्करण को लिया है।

यह सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थों की भाषाओं पर काल के प्रभाव से कुछ परिवर्तन आया है अतः भगवान महावीर की मूल भाषा को समझने के लिए इन दोनों ग्रन्थों की भाषा का खारवेल के अभिलेखों के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है क्योंकि खारवेल के अभिलेख ई. पू. द्वितीय-प्रथम शती के हैं और उनका भाषायी स्वरूप अपरिवर्तित है।

अपने इस आलेख में शोभना शाह ने शौरसेनी के प्रमुख लक्षणों यथा-मध्यवर्ती "त्' का "द्" 'न्' का 'ण्' आदि को दृष्टिगत रखते हुए शब्द-रूपों का सांख्यिकीय विश्लेषण किया है। वे बताती हैं कि जहाँ खारवेल के अभिलेखों में मध्यवर्ती "त्" शत-प्रतिशत "त्' के रूप में ही मिलता है वहाँ आचारांग में यह ९९.५ % मिलता है। इसके विपरीत जहाँ प्रवचनसार में मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर ९४% "द्" हुआ है जबकि खारवेल के अभिलेखों में मध्यवर्ती "त्" का "द्" होने का एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार मध्यवर्ती "थ्" के स्थान पर "ध्" होने की प्रवृत्ति खारवेल के अभिलेखों में ७५% आचारांग में ८३% और प्रवचनसार में ५४% है, इसके विपरीत मध्यवर्ती "थ्" एवं "ध्" का "ह" होने की प्रवृत्ति खारवेल के अभिलेखों और आचारांग में पूरी तरह अनुपस्थित है, वहाँ वह प्रवचनसार में लगभग ४५% है। इससे यह फलित होता है कि खारवेल के अभिलेखों की भाषा आचारांग के निकट है।

इसी प्रकार जहाँ शौरसेनी में दन्त्य 'न्' के स्थान पर सर्वत्र मूर्धन्य 'ण्' होता है वहाँ खारवेल के अभिलेखों में यह प्रवृत्ति प्रायः अनुपस्थित है, सम्पूर्ण शिलालेख में केवल एक बार दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" का प्रयोग मिला है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आचारांग की अर्धमागधी भाषा खारवेल के अभिलेख की भाषा से अधिक निकट है। जबकि प्रवचनसार की शौरसेनी प्राकृत उससे भिन्न प्रतीत होती है। तथ्य यह है कि अशोक, खारवेल और यहाँ तक कि मथुरा के दूसरी शती तक के जैन अभिलेखों में भी शौरसेनी के प्रमुख लक्षणों का प्रायः अभाव ही है। अतः इस तुलनात्मक अध्ययन से यह फलित होता है कि दिगम्बर जैन ग्रन्थों की शौरसेनी कम से कम ईसा की दूसरी शती के बाद ही कभी अस्तित्व में आई है।

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह ने अपने शोध-आलेख में 'तीर्थंकरों के उपदेश की भाषा' पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने अनेक श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया हैं कि तीर्थंकरों की उपदेश-भाषा अर्धमागधी थी। इसके साथ ही उन्होंने अपने शोध-पत्र में दिगम्बर परम्परा में मान्य दिव्य ध्वनि का स्वरूप भाषात्मक है या अभाषात्मक इस प्रश्न की भी चर्चा की है। उन्होंने 'धवला' और 'आदिपुराण' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक न होकर वह अक्षरात्मक होती है। हरिवंशपुराण में इस दिव्य ध्वनि को दो प्रकार का बताया गया है- दिव्य ध्वनि-रूप और सर्व-मागधी भाषा-रूप। इससे यही सिद्ध होता है कि तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि मगध की सभी लोकबोलियों की विशेषता वाली थी। इस प्रकार उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर डॉ. जितेन्द्र बी. शाह ने यह सिद्ध किया है कि दिगम्बर परम्परा में भी तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि को न केवल अक्षरात्मक माना गया है अपितु उसे अर्धमागधी भाषा के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

डॉ. भारती शेलत ने अपना आलेख 'મૌર્ય સમ્રાટ્ અશોકના અભિલેખોની ભાષા સાથે અર્ધમાગધી પ્રાકૃતનું સાદૃશ્ય' गुजराती भाषा में प्रस्तुत किया है।

अपने आलेख के प्रारम्भ में उन्होंने अशोक के अभिलेखों के व्यापक विस्तार-क्षेत्र की चर्चा की है। अशोक के अभिलेख पश्चिमोत्तर में शाहबाजगढ़ी (जिला पेशावर-वर्तमान अफगानिस्तान) से प्रारम्भ होकर दक्षिण पूर्व में धौली

और जौगढ़ (वर्तमान उड़ीसा, जिला गंजाम) तक, उत्तर में कालसी (देहरादून) से दक्षिण में जठिंग-रामेश्वर (जिला चित्रलदुर्ग, कर्नाटक) तक पाए जाते हैं । वस्तुतः उनके विस्तार-क्षेत्र से यह सिद्ध होता है कि ये अभिलेख सम्पूर्ण प्राचीन भारतवर्ष में फ़ैले हुए हैं ।

डॉ. भारती शेलत ने ('मौर्य सम्राट् अशोक के अभिलेखो की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत का सादृश्य' में) बताया है कि अर्धमागधी प्राकृत के समान ही अशोक के अभिलेखों में प्रारंभिक "य" के स्थान पर "अ" की प्रवृत्ति देखने को मिलती है जैसे :- अथा, आव (=यथा, यावत्) जैनागमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि में भी अहासुतं, अहाकप्पं अहामग्गं, आवकहा आदि रूप देखने को मिलते हैं । इसी प्रकार 'मतिः' शब्द के समान ही अशोक के अभिलेखों में 'मुते' शब्द पाया जाता है । पालि सुत्तनिपात और आचारांग में भी 'सम्मुति' शब्द का प्रयोग मिलता है । अर्धमागधी प्राकृत में अकारान्त शब्दों की चतुर्थी एकवचन में 'आए' विभक्ति प्रत्यय प्रचलित है। जैसे :- अहिताए (आचारांग) । यही स्थिति अशोक के उत्तर-पश्चिमी अभिलेखों में पाई जाती है। वर्तमानकालिक कृदन्त के '-मान' प्रत्यय के स्थान पर अर्धमागधी आगमों में और अशोक के अभिलेखों में '-मीन' प्रत्यय मिलता है। इसी प्रसंग में प्रो. मेहेंदले ने यह मत भी प्रतिपादित किया है कि अशोक के पश्चात् काल के अभिलेखों में कहीं भी '-मीन' प्रत्यय नहीं मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्धमागधी साहित्य अशोक के काल जितना प्राचीन तो है ही। इसी प्रकार सम्बन्धक भूतकृदन्त के लिए आगमों में -त्तु -इत्तु के प्रयोग हैं जैसे :- जानित्तु, चइत्तु, वन्दितु । यही 'त्तु' प्रत्यय अशोक के अभिलेखों में भी पाया जाता है । इसी प्रकार अर्धमागधी आगमों में प्रायः 'र' के स्थान पर 'ल' होता है, जैसे "लुक्ख", एलिस, पलिछिन्दिय, अन्तलिक्ख, आदि (=रुक्ष, यादृश, परिछिंद्य, अन्तरिक्ष) । अशोक के अभिलेखों में भी 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है जैसे "लाजा" (राजा), लजूक (रजूक) ।

अर्धमागधी प्राकृत में अघोष 'क्' के स्थान पर घोष 'ग्' हो जाता है जैसे :- लोग, असोग, आगास, आदि । अशोक के जौगड, बेराट, आदि के अभिलेखों में भी यह प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है । इसी प्रकार 'समीप' के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग अर्धमागधी और पालि के समान अशोक

के अभिलेख में भी मिलता है ।

इस प्रकार अनेकों शब्द-रूपों की तुलना के माध्यम से डॉ. भारती शेलत ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अशोक के अभिलेखों की भाषा का सादृश्य वर्तमान अर्धमागधी आगमों के साथ अधिक है । इसके विपरीत हम देखते हैं कि शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट लक्षण जैसे मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" तथा "न्" के स्थान पर "ण्" अशोक के अभिलेखों में प्रायः या बिलकुल नहीं पाए जाते हैं । इन अभिलेखीय आधारों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ अर्धमागधी कम-से कम अशोक के काल जितनी प्राचीन है, वहाँ दिगम्बर जैन आगमों की शौरसेनी प्राकृत कम से कम मथुरा के ईसा की दूसरी शती तक के जैन अभिलेखों के भी बाद की है । क्योंकि इन अभिलेखों में शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण जैसे मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' या सर्वत्र 'न्' का 'ण्' कहीं देखने को भी नहीं मिलते हैं । इससे यही सिद्ध होता है कि अर्धमागधी भाषा शौरसेनी भाषा की अपेक्षा कम से कम पाँच सौ से सात सौ वर्ष पूर्ववर्ती है । इन समग्र आलेखों में प्रतिपादित तथ्यों से जो बात उभरकर हमारे सामने आती है वह यह है कि अर्धमागधी भाषा ही भगवान् महावीर के उपदेशों और उनके उपदेशों के आधार पर निर्मित आगमों की मूल भाषा है । साथ ही साथ अर्धमागधी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत का प्राचीनतम रूप भी है । पुनः इससे यह भी फलित होता है कि अर्धमागधी आगमों के आधार पर ही शौरसेनी आगमों की रचना हुई है। यह सत्य है कि अर्धमागधी आगम परवर्ती काल में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए हैं, किन्तु न केवल अर्धमागधी आगम, अपितु शौरसेनी आगम भी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित है क्योंकि वे तो प्रायः महाराष्ट्री से प्रभावित अर्धमागधी आगमों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं । जैन शौरसेनी आगमों की भाषा परिशुद्ध शौरसेनी न होकर महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी है । पुनः अभिलेखीय प्राकृतों की आर्ष अर्धमागधी से तुलना करने पर भी हम यह पाते हैं कि जहाँ अशोक के अभिलेखों तथा खारवेल के और मथुरा के प्राचीन जैन अभिलेखों में अर्धमागधी प्राकृत के भाषिक तत्त्व विपुलता से पाए जाते हैं वहाँ उनमें शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण जैसे मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" और "न्" के स्थान पर "ण्" बिल्कुल ही अनुपस्थित हैं ।

अतः अर्धमागधी ही मध्यकालीन प्राचीनतम प्राकृत का प्रतिनिधित्व

करती है न कि परवर्ती काल में विकसित शौरसेनी ।

शौरसेनी भाषा में जो आगमतुल्य ग्रन्थ पाए जाते हैं वे पाँचवीं शताब्दी के बाद के हैं क्योंकि उनमें चौदह गुणस्थान, सात नय, सोलह स्वर्ग, सप्तभंगी आदि अनेक ऐसी अवधारणाएँ हैं जो जैन दर्शन में उमास्वाति के पश्चात् पाँचवीं-छठीं शताब्दी में विकसित हुई हैं ।

पुनः शौरसेनी आगमों या आगमतुल्य ग्रन्थों में अर्धमागधी आगमों और उनकी निर्युक्तियों की सैकड़ों गाथाएँ पायी जाती हैं जो उनके अर्धमागधी से परवर्ती होने का स्पष्ट प्रमाण है ।

अतः जैन आगमों की मूल भाषा तो अर्धमागधी ही रही है । यह ठीक है उनके शौरसेनी प्रभावित और महाराष्ट्री प्रभावित संस्करण कालान्तर में अस्तित्व में आये हैं । यह तथ्य है और इसे विवाद का विषय नहीं बनना चाहिये ।

संगोष्ठी में उपस्थित विद्वानों की दृष्टि में शौरसेनी ही प्राचीन तम प्राकृत है, सभी प्राकृते शौरसेनी से उत्पन्न हुई हैं, अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगमों के आधार पर बने हैं ये सभी दावे न केवल मिथ्या हैं अपितु जैनसमाज में विसंवाद उत्पन्न करने वाले हैं । इन विवादों से प्राकृत विद्या का विकास अवरुद्ध होगा और प्राकृत विद्या के क्षेत्र में करणीय कार्य है, वे पिछड़ जायेंगे । अतः संगोष्ठी के समापन के अवसर पर आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी को मार्मिक शब्दों में यह कहना पड़ा "हम लोग अनेक विवादों को लेकर बैठे हैं, उनसे अभी थके नहीं और भाषा के नाम से चली आ रही एकता को नष्ट करने का यह नया विवाद खड़ा किया गया है ।" वस्तुतः जैनदर्शन और चिन्तन समन्वयवादी है, अनेकांत का संपोषक है । हमारा कार्य विसंवाद को जन्म देना न होकर विसंवाद में संवाद को देखना है । सत्य को आग्रहों के चश्मे से नहीं पाया जा सकता है । आज आवश्यकता है आग्रहों के घेरे से ऊपर उठकर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य को समझने और देखने की । इसी से समाज में संवाद की स्थापना होगी । आर्यभाषाओं के क्षेत्रमें शौरसेनी भाषा और शौरसेनी आगमों के महत्त्व और मूल्यवता से प्राकृत भाषाका कोई भी विद्वान असहमत नहीं है, किन्तु अर्धमागधी और अर्धमागधी आगमों को अपदस्थ करके शौरसेनी को गौरवान्वित करने का प्रयत्न वांछनीय नहीं है ।

अंत में मैं पुनः आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी एवं प्रो. के. आर. चन्द्रा के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा कि उन्होंने इस 'भूमिका' के लिखने के बहाने मुझे विभिन्न विद्वानों के श्रम-साध्य आलेखों में अवगाहन करने का यह सुअवसर दिया। प्रस्तुत भूमिका में मैंने उनके ही विचारों को अपने शब्दों में संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि जहाँ मुझे आवश्यक लगा मैंने अपनी टिप्पणियाँ की हैं। इसमें यदि कुछ अन्यथा लिखा या समझा गया हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

INTRODUCATION[1]

By

Prof. Sagarmal Jain

It is a matter of pleasure for learned men that the papers read at the Seminar on "The Original Language of the Jain Āgamas," held on 27-28th April, 1997, in Ahmedabad under the holy auspices of the Prabhāvaka Jaina Ācārya Śrī Vijaya-Sūryodayasūrīśvarajī and Ācārya Śrī Vijaya-Śīlacandrasūrijī, is being published. Under the inspiration of Ācārya Śrī Vijaya-Śīlacandrasūrijī respected Dr. K. Rishabh Chandra insisted upon me to contribute an Introduction to this book. I would, therefore wish first to express my thanks to the principal Ācārya, Dr. Chandrajī, and the institution that publishes it, for they have entrusted this responsible task to an individual like me who has only slightly taken a dip into the ocean of the literature of Prakrit languages, in spite of the fact that there are numerous senior scholars of Prakrit languages.

Before initiatng special serious discussion about the papers read at this Seminar, it is necessary to know as what after all was the need to organize this Seminar. In the course of the history of the last twentyfive hundred years, generally all the traditions of Jainism as also the scholars thereof have been accepting the Ardhamāgadhī as the original language of the Jaina Āgamas; but, unfortunately this non-controversial subject has been dragged and brought into the cluster of controversies by

1. Original "Bhūmikā" in Hindī; English Translation by Prof. (Dr.) N. M. Kansara. NMK.

some scholars during the last five years. Now it is being said ehat "the original language of the Jaina Āgamas is the Śaurasenī Prakrit, not the Ardhamāgadhī, and all the Ardhamāgadhī Āgamas accepted by the Śvetāmbara tradition were originally composed in the Śaurasenī Prakrit, and were in the course of time transformed into the Ardhamāgadhī." By this unrestrained evil propaganda, not only was the Śvetāmbara society having their faith in the Ardhamāgadhī Āgamas shocked, the impartial secular scholars of the Prakrit language were also agitated at such baseless opinions and write-ups. Consequently, all met together and decided that this mistaken conception should be properly examined.

In this connection it is also worth knowing that it was essential to consider and discuss the theories proposed since last few years by the great scholar of Prakrit languages, Dr. K. R. Chandra, who has engaged himself in the difficult task of discovering the original nature of the language of the Ardhamāgadhī Āgamas. Hence, on this occasion, an attempt is also made to properly evaluate and discuss the nature of the original language of the *First Adhyayana* of the *Ācārāṅga* edited by him and published by the Prakrit Jain Vidya Vikas Fund. Thus, the purpose of this seminar was twofold; first, to determine the nature of the ancient Ardhamāgadhī language and second, to confirm the fact that it is the Ardhamāgadhī that has been the original language of the Jaina Āgamas. Many veteran and senior scholars of Prakrit language and Jainology, such as, Pt. Dalsukhbhai Malvania, Dr. Harivallabh Bhayani, Dr. Satyaranjan Banerjee, Prof. Madhusudan Dhaky, Dr. Sagarmal Jain, Dr. Ramprakas Poddar, Dr. Premsuman Jain, Dr. N. M. Kansara, Dr. K. Rishabh Chandra, and others, were present in this Seminar. The other speciality of this Seminar was that the scholars and others with interest who attended it, belonged to all the sects of Jainism, viz., Digambara, Śvetāmbara Mūrtipūjaka, Sthānakavāsī,

Terāpanthī, and others. And, further non-Jain impartial secular scholars too contributed to the dignity of this Seminar by their presence. This Seminar thus belonged to all people, rather than was confined to any one tradition or sect.

Not only did the Indian scholars, but many Western scholars too have commended, through their letters, the importance and necessity of the topic of this Seminar. Among these Western scholars the prominent ones are Prof. J. C. Wright from London, Prof. K. R. Norman from Herts, England, Prof. W. Bollee from Heidelberg in Germany, Prof. Paul Dundas from Edinburgh in Scotland, Prof. Royce Wiles from Canberra in Australia, and others. The distinguished indologist, Prof. K. R. Norman has specifically written in his letter that it was the Ardhamāgadhī only that was the original language of the Jaina Āgamas, but this Ardhamagadhi was somewhat different from, and ancient than, the Ardhamāgadhī that has been influenced by the Mahārāṣṭrī of the extant editions of the Āgamas, and it can be called the archaic Ardhamāgadhī. Further, he writes that along with this he believes also that later on this archaic Ardhamāgadhī was influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit. The extant Śauraseni Āgamas on the other hand are posterior to even the Āgamas in the Mahārāṣṭrī-influenced Ardhamāgadhī. At the end of the letter he has shown an expectation that he would be more pleased if he gets a copy after the publication of these papers read in this Seminar. In this way other foreign scholars also have commended the need for this Seminar and praised profusely the efforts of Prof. K. Rishabh Chandra.

The Western scholars have also been expecting that English translation or English abstract too of those papers that are in Hindi or regional languages should be printed. As I understand, it will be fulfilled by the English translation of the *Bhūmikā* in Hindi.

In the present Seminar the scholars not only praised Prof.

K. R. Chandra's works for determining the oldest form of the Ardhamāgadhī language, but also emphasized that such attempts may continue persistently. On the basis of the level of the research papers presented at this Seminar it can be said definitely that this Seminar has been quite successful in fulfilling its objective. Since all the important papers presented at the Seminar are being published in this book, their detailed discussion and review is not at all expected here, even then it is necessary at least to present though briefly, in this Introduction, the conclusions and their evaluation.

Although the papers of Pt. Dalsukhbhai Malvania and some other scholars have not yet been received for publication, the oral speeches delivered by them have not only provided proper guidance to the scholars present at the Seminar, but have also proved the fact that it was the Ardhamagadhi that had been the original language of the Jaina Āgamas. Similarly, many foreign scholars too have, through the medium of their letters, commended the efforts of Prof. K. R. Chandra with reference to determining the ancient form of the original Ardhamāgadhī language of the Jaina Āgamas, and have made clear the importance of the principal central viewpoint of the Seminar. Their letters are surely a source of inspiration for us.

After this general discussion about the Seminar, we shall now present, along with the discussion of the main points sought to be made, their proper review also on necessary occasions. The papers presented in the Seminar are mainly divided into two sections, English and Hindi as also Gujarati. In the English Section, the papers of the six scholars, viz., Prof. Harivallabh Chunilal Bhayani, Prof. Styarajnan Banerjee, Dr. Ramprakash Poddar, Dr. K. R.Chandra, Dr. N. M. Kansara and Dr. Dinanath Sharma, have been included.

Before this section, the Hindi paper, entitled 'Viṣaya Pratiṣthāpana' has been written by Dr. K. R. Chandra by way of

'Proposing the Subject Matter'. In it Prof. Chandra has established that the original language of the Jaina Āgamas was Ardhamāgadhī only, but as a result of the various redactions that came into existence during the later times, some times there has creeped in the influence of the medieval Prakrit, more particularly of the Mahārāṣṭrī Prakrit. Even then, on the strength of the word-forms now available in numerous ancient manuscripts and on that of the original readings given in the *Cūrṇīs*, it can be determined as to what was the form of that archaic Ardhamāgadhī. While presenting in this paper a comparative exposition of the original linguistic form and the transformed linguistic form of the First Chapter of the First Śruta-skandha of the Ācārāṅga, he has shown how in later times this archaic Ardhamāgadhī has been influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit. He clearly believes that in spite of the fact that, although the ancient readings were available in the *Cūrṇī* and in the Palmleaf as also the paper manuscripts, due to the influence of the rules of the Prakrit Grammars of the later period, there has occurred considerable change in their language. In his paper he has tried to explain properly as to the real meaning of the aphorism *"prakṛtiḥ śauraseni"*. According to his point of view, the meaning of *"prākṛtiḥ śaurasenī"* is only this much that the word-forms of Śaurasenī have been taken as the basis for understanding those of the Paiśācī or Māgadhī. He further writes that it is neither proper nor fit for the scholars to explain any of the aphorisms of the grammar, in support of thear own imaginary falses beliefs, by taking it out of its context. Nobody can become a veteran scholar by propagating an untruth *(vitatha/asatya)* on being inspired by sectarian or unacademic presupposition.

At the beginning of the First Section, Prof. Harivallabh Chunilal Bhayani, a veteran scholar of Prakrit languages, has highlighted the history and the development of the Middle Indo-Aryan languages, in his paper entitled *'A Few Observations on the History and Development of MIA. Languages and Dialects'*,

presented in English. He has first of all propounded that the form of any language, or that of the any work composed in such a language, that has been handed over in oral tradition, changes considerably in the course of time. On the basis of this changing nature of the linguistic form different scholars have divided the Middle Indo-Aryan Language into three parts : (1) Early (2) Middle and (3) Late. According to him the Ardhamāgadhī, Pāli, the Gandhārī and various dialects of the Aśokan period as also the Prakrit languages of the Aśokan Inscriptions are included in the Early part. The archaic Mahārāṣṭrī, the later literary Mahārāṣṭrī, Paiśācī, and various Prakrits, like the Śaurasenī, Māgadhī and others as well as other tribal dialects of that period as employed in the dramas, are included in the Middle part. And the Late MIA. represents vrious Apabhraṁśas. As regards the Śaurasenī, he holds the view that the Śaurasenī that is found in the dramas and later *Saṭṭakas* is the Prakrit language that was spoken by the female characters, children, servants, maidservants, etc., and hence utilized at time of staging those dramas.

But here we should also remember that the Śaurasenī used in the dramas is not fully identical with the language that was being spoken during that period in the Mathurā region. The two or three peculiarities of the Śaurasenī as mentioned in the grammatical works are meant for the guidance of the authors of dramas in that period. There must have been many more variations in the regional folk dialects of that period. At the end he writes that those who believe only the Śaurasenī itself to have been the oldest Prakrit are ignorant of the history of the development of the Middle Indo-Aryan Language.

The paper of Prof. Satyaranjan Banerjee, a seniormost scholar of linguistics and the Prakrit languages, in the Calcutta University, Calcutta, deals with the problem of editing the Jaina Āgamas. In his paper presented in English, he has shown that reconstruction of the old readings of the Jaina Āgamas is a

difficult problem. He clearly believes that as a result of the ignorance about the language on the part of the scribes, or of the influence of the regional language of the times, numerous variants have come into existence. Further, he has also shown in this paper that the variants come into existence not only due to the ignorance of the scribes or the influence of their own language, but at times also due to the method of writing the syllables closely. For instance, in the case of old Brāhmī script, there was so much less space between the placement of syllables, like the *na and ṇa, ya* and *tha, va* and *ca, ṣa* and *kha*, etc., that the scribes were naturally confused.

He has tried in his paper to clarify this fact also that the Śaurasenī of the Digambara Āgamas is different from the Śaurasenī of the Prakrit dramas and, it is for this reason that some Western scholars have employed the term 'Jaina Śaurasenī' for it. Prof. Banerjee clearly accepts this fact also that the Śaurasenī in which the Jaina works of the Digambara tradition, such as the Ṣaṭkhaṇḍāgama, etc., are extant, has been influenced not only by the Ardhamagadhi, but also by the Maharastri Prakrit, since we find the '*ya-śruti*' profusely in it. But, Prof. Banerjee seems to be more confident about the antiquity of this '*ya-śruti*' of the Mahārāṣṭrī. He states that even Pāṇini (500 B.C.) also has mentioned the '*ya-śruti*'; although it is absent as a rule in the Pāli, its profusion in the Prakrit is surely ancient, not modern.

The paper, entitled "*The Myth of prakṛtiḥ saṁskṛtam*" by Dr. Ramprakash Poddar, the Ex-Director of Vaishali Institute and a scholar of Prakrit language, pertains to the problem of the interpretation of the aphorism "*prakṛtiḥ saṁskṛtam*" in the grammar of Hemacandra. In his paper he has discussed the different meanings of the word "*prakṛti*". According to Dr. Poddar, the meaning of the term "*prakṛti*" in the present context is '*mūla dhātu*' ('basic root'). Clarifying this, he further writes that the purpose of the term '*prakṛti*' in the Prakrit Grammar is

to show what was the former Sanskrit form of the *'tadbhava'* word before it passed into its Prakrit form, and due to which grammatical rules it was subjected to phonetic change to get transformed into the present Prakrit form. In this manner, according to Dr. Poddar, here the purpose of Hemacandra in declaring Sanskrit as *'prakṛti'* of Prakrit is only this much that in the Prakrit Grammar the etymology of the Prakrit words has been traced on the basis of the Sanskrit words. Along with this he also admits clearly that this aphorism of Hemacandra does not apply in the context of the *'deśya'* words. The meaning of the term *'prakṛti'* is thus very restricted.

He further writes that the development of languages take place on the twin basis of the elite persons and the common people. In his view, Sanskrit was a language of the elite persons, while Prakrit was the language of the common men. Again, the language of the common men is non-artificial; as it works, it is not fully bound down by the rules of grammar. That is why Hemacandra has called the Prakrit as *'ārṣa'* and *'bahulam'*. The purpose behind it is to show that with regard to its own word-forms the Prakrit is a language abounding in numerous options and is an ancient one.

According to Dr. Poddar, upto the time of Aśoka this language had spread in the whole of the *Āryāvarta*, and upto the far South, and excepting a few linguistic variations, there was surely found a uniformity in its linguistic form. The oldest form of this language is to be found in the Aśokan inscriptions. These inscriptions are found located in the whole of the *Āryāvarta* and upto the far South India. Aśoka called himself the king of Magadha. The language of these inscriptions was, therefore, called Māgadhī. In fact, it was the Māgadhī that was the ancient medieval Aryan language.

Dr. Poddar believes also that, as a result of the rise of the Śuṅgas and the fall of the Mauryas, the political and cultural

centre of India shifted from the Eastern India to the West in Mathurā, i.e., the Śaurasena region, and consequently Śaurasenī replaced the Māgadhī as the Aryan language of the Middle India. As a result of this fall of Magadha, the fame of Magadha too was reduced to dust; so much so that the adjectival term '*devānāṁ-priya*', which was being used in the honorific sense then, became the one indicating a 'fool'. Due to this loss of prestige of the Māgadhī language, the '*buddhavacana*' ('the teachings of Buddha') that were originally composed in the Māgadhī Prakrit, had to take the form of the 'Pāli'. Similarly, the Māgadhī of the Jaina Āgamas too adopted the word-forms of the other regions and became the Ardhamāgadhī. On the other hand, with the loss of prestige of the Māgadhī, the Prakrits of other regions, began to expand by sticking to their proximity to Sanskrit. Thus, as a result of this marital relation of the Sanskrit with the Prakrit, gradually the Sanskrit and the grammars of the Sanskrit began to prevail upon the Prakrit language. Consequently, the Prakrits came to be explained on the basis of the word-forms of the Sanskrit and the grammars of the Sanskrit. Here, from the discussion by Dr. Poddar, it follows that the different branches of the Prakrit, such as the Ardhamāgadhī, the Paiśācī, the Śaurasenī, the Mahārāṣṭrī, and the Apabhraṁśa, came into existence originally in the form of the regional and chronological versions of the Māgadhī, and that in this way it was basically the Māgadhī only that was the oldest Prakrit.

At the close of his paper Dr. Poddar admits that the purport of the aphorisms '*prakṛtiḥ saṁskṛtam*' *and* '*tatra bhavaṁ tata āgataṁ prākṛtam*' of Hemacandra is very restricted, and is meant to demonstrate the etymology of only the '*tadbhava*' words. From this it should not be taken that the Prakrit originated from the Sanskrit or that the Sanskrit is the source (*yoni*) of the Prakrit. Further, he himself accepts that in his *Bālarāmāyaṇa*, Rājaśekhara has referred to the Prakrit as 'indeed the source of

the Sanskrit' (*"yoniḥ kila saṁskṛtasya"*) and thereby proved that the Sanskrit originated from the Prakrit. Namisādhu too has expressed this same opinion while commenting on Rudraṭa (2.12). In fact, the very word *'saṁskṛta'* itself indicates the fact that it was by polishing the Prakrit languages, i.e. the folk dialects, that the Sanskrit was formulated. Hence, it is an illusion to believe that the Prakrit has originated from the Sanskrit.

In his paper composed in English, Prof. K. R. Chandra has discussed as to what is the contribution of the Ardhamāgadhī language of the Jaina Āgamas and that of the Śaurasenī language in the development of the Middle Indo-Aryan languages. While doing so he has proved the Ardhamāgadhī to have been older than the Śaurasenī. For this he has compared the word-forms of the Ācārаṅga as an oldest representative text of the Ardhamāgadhī and of the *Pravacanasāra* (critically edited by Prof. A.N.Upadhye) as a representative text of the Śaurasenī with those of the Pāli and the language of the Aśokan inscriptions. He has taken up more than a hundred words and has shown by comparison as to in which forms do those words occur in the Ardhamāgadhī, Śaurasenī, Pāli, and the Aśokan inscriptions. In this way he has studied those word-forms comparatively. The affinity of these word-forms with the Ardhamāgadhī is proved to be more than 80%, while that of them with those of the Śaurasenī Prakrit to be 20% to 30% only. On the basis of this comparative discussion, he has come to the following conclusions :

(1) The dental '*n*' in the Ardhamāgadhī, the Pāli and the Aśokan inscriptions is retained as it is, while in the Śaurasenī it is transformed into the retroflex '*ṇ*' in its place.

(2) The initial and the medial '*jñ*' chages to '*ñ*' or '*ññ*' in the Pāli and the Aśokan inscriptions, while in the Śaurasenī it is transformed into the retroflex '*ṇ*' in its place. But, sometimes and mainly in the Eastern region, even '*n*' or '*nn*' is

found, which is the Ardhamāgadhī form. Contrary to this in the Śaurasenī, '*jñ*' is found as '*ṇ*' or '*ṇṇ*' which is absent in the Pāli and the Aśokan inscriptions. According to Dr. Chandra, the usage of '*ṇ*' or '*ṇṇ*' in the place of '*jñ*' is found only after the first century of the Christian era.

(3) Similarly, the form *'bhava'* of the root *'bhū'* is found uniformly in the Ardhamāgadhī, Pāli and the Aśokan inscriptions, although the form *'hava'* or *'ho'* in the place of *'bhava'* is also found in some places; even though its form *'hava'* or *'ho'* became more popular only in the later period.

(4) The medial 'k' is preserved in the same form or is transformed into *'g'* in the Ardhamāgadhī. This process of transformation of *'k'* into *'g'* is found particularly in the Aśokan inscriptions of the Western region. In the Jain Śaurasenī the *'g'* in the place of *'k'* is elided and it is replaced by the *'y'*-śruti also, which is a characteristic of the Mahārāṣṭrī Prakrit. It is worth knowing that the *'y'*-śruti is considered to be a characteristic of the later Mahārāṣṭrī.

(5) The medial *'t'* generally remains as it is in the Māgadhī, the Ardhamāgadhī, the Pāli and the Aśokan inscriptions, although sometimes in rare form *'d'* in its place is found in the Northern and North-Western inscriptions of Aśoka, while this is the usual process in the Śaurasenī. Therein, *'d'* everywhere replaces *'t'*. In the Śaurasenī of the Pravacanasāra, *'y'*-śruti in the place of *'t'* is also found in some places, but it is the characteristic of the later Prakrit and it has come in the Jaina works of the Śaurasenī due to its influence only.

(6) The form *'kaḍa'* is found in the place of the word *'kṛta'* in the Ardhamāgadhī; in the Aśokan inscriptions, however, the form *'kaṭa'* is found in its place. In the inscriptions of Girnar, the form *'kata'* is found. The voicing of *'ṭ'* into *'ḍ'* of the word *'kaṭa'* is found in the Ardhamāgadhī, while in the Śaurasenī the forms found are *'kada'* and *'kaya'*.

In this manner Prof. K. Rishabh Chandra has proved that although in some places in the Aśokan inscriptions of the Northern, North-Western and the Western regions some insignificant word-forms resembling those of the Śauraseni and the Mahārāṣṭrī are found, even then the extent to which the affinity of the language of the Ardhamāgadhī Āgamas that is found with that of the Aśokan inscriptions and of the Pāli, is not to be found to that extent with the language of the Śauraseni Āgamas.

In his paper titled "*A Glimpse of Some of the Archaic Linguistic Traits Inherited by Āgamic Ardhamāgadhī from Vedic Chāndas Speech*", Dr. N. M. Kansara, a distinguished scholar of ancient Indian languages, has tried to show that many linguistic processes of the Vedic *Chāndas* (Vedic Sanskrit) are found as such or partially in the Āgamic Ardhamāgadhī too. It is worth knowing that numerous peculiarities of the Vedic Chāndas, i.e., the Vedic Sanskrit, are not found in the later Pāṇinian Sanskrit, about which Pāṇini himself has given indications by his aphorisms like "*bahulaṁ chandasi*". Of them, Prof. Kansara has referred to the following processes -

1. As in the Vedic Chāndas, there is found the insertion of an anusvāra, in the Ardhamāgadhī also.

2. In the Vedic Chāndas the medial dental '*n*' that follows the guttural consonants like '*r*', '*l*', '*v*', and '*h*', is transformed into the cerebral '*ṇ*' (This process is also found optionally in the Ardamāgadhī too, but in the later Śauraseni and Mahārāṣṭrī this change of the dental '*n*', to the retroflex '*ṇ*' occurs everywhere.[2]

---

2. This abridgement of the original statement by Dr. Sagarmal in his Hindi draft reads rather funny, since what is meant is like this : In the Vedic speech, medial '*n*', i.e., the dental nasal, is changed to retroflex nasal '*ṇ*', when it follows the consonants '*r*', and '*ṣ*', altough it may be intercepted by vowels, or by the semi-vowels '*y*', '*l*', and '*v*', or by the guttural consonant and '*h*', or by the consonants of the labial class–NMK.

3. In the Śukla Yajurveda the '*ṣ*' or '*kṣ*' is pronounced as '*kh*'. In the Ardhamāgadhī this is a common characteristic that '*kṣ*' becomes '*kh*' or '*kkh*', as for instance *khattiya*, *jakkha* (for *kṣariya* and *yakṣa*).

4. In the Śukla Yajurveda, the initial '*y*' is pronounced as '*j*'. Similarly, in the Ardhamāgadhī too '*y*' is changed to '*j*', as for instance *jaṁta*, *jakkha*, *jatta*, etc., for *yantra*, *yakṣa*, *yātrā*, etc.

In the same way, Prof. Kansara has also given numerous other examples of the similarity between the Vedic *(Chāndas)* Sanskrit. On the basis of these similarities, Prof. Kansara concludes that the Prakrits like Māgadhī, Ardhamāgadhī, Śaurasenī, Mahārāṣṭrī, Paiśācī, etc., have developed from the Vedic Chāndas only. In support of his conclusion, Prof. Kansara quotes also the aphorism '*prakṛtiḥ saṁskṛtam*'[3] of Hemacandra, but this conclusion of him is indeed mistaken, because the real meaning of the aphorism '*prakṛtiḥ saṁskṛtam*' is not that the Prakrits have developed from the Sanskrit.[4] As has been proved by other scholars in their papers in this Seminar, the meaning of the aphorism '*prakṛtiḥ saṁskṛtam*' is this much only that in order to explain the etymology of the '*tad-bhava*' words through

3. Now, this statement is not an aphorism, but rather a part of his auto-commentary on Sid.Hem.Sbd. 8.1.1, and just after it Hemacandra writes "*tatra-bhavaṁ tata āgataṁ vā prākṛtam*", which means "Sanskrit is the basis; what originated from it or what is derived from it, is called Prakrit".

4. Pischel has specifically stated at the beginning of his Introduction to '*Comparative Grammar of the Prakrit Languages*' (Eng. Tr. by Subhadra Jha, Motilal Banarasidass, Delhi, 1981, p.1) that by the term Prākrit, the Indian grammarians and rhetoricians comprehend a multitude of literary languages as the common characteristic whereof they consider Sanskrit their origin. Therefore, they generally derive the word *prākṛta* from *prakṛti*, "element", "basis", and according to them this basis is Sanskrit. And in this matter the author of the paper is in the august company of veterans like Pandit Bechardasji Doshi and Pandit Hargovinddasji-NMK.

the Prakrit grammar the words of the Sanskrit language have been accepted as a basis. In fact not only all the Prakrits but also even the *Chāndas* (Vedic Sanskrit) is originally a refined form of the regional dialects. Hence all the prevalent common elements of the medieval dialects are found in all of them uniformly. The reality is that along with the *Chāndas* all the Prakrits have developed in the form of elder and younger sisters from the various medieval dialects.

In the paper *'Old Linguistic Elements in the Ardhamāgadhī in Comparison with the Śaurasenī'*, of Dr. Dinanath Sharma it has been proved, on the basis of many facts, arguments and evidences, that the old linguistic elements are found to a greater extent in the Ardhamāgadhī than in the Śaurasenī.

As an evidence in his conclusion, he has compared the word-forms of the Ardhamāgadhī Āgamas with those of the Pāli Tripiṭaka and the language of the Aśokan inscriptions. According to him, the process of softening the hard consonants *'k'*, *'t'*, and *'th'*, as for instance the change of *'loka'* to *'loga'*, of *'śarapātakam'* to *'sarapādagaṁ'* (Sūtrakṛtaṅga 1.4.2.3.), of *'atha'* to *'adha'*, etc., that is there is found here sometimes. Here, the notable fact is that the change of the medial *'t'* to *'d'* had been prevalent in the ancient Ardhamāgadhī too, the only difference being that while this change of *'t'* to *'d'* is as a rule, it is optional in the Ardhamāgadhī. In a way it is the general characteristic of the Śaurasenī only, while it is found in the Ardhamāgadhī only rarely. Even then the fact revealed by Dr. Dinanath Sharma is important. It should not also be taken that the Ardhamāgadhī has developed from the Śaurasenī. Similarly, by discussion the ancient word-forms *'attā'*, *'ātā'*, *'atpā'* and the later word-forms *'ādā'*, *'appā'*, *'āyā'*, for the word *'ātmā'*, he has supported the fact that the Ardhamāgadhī is an older language than the Śaurasenī.

In the Second Hindi/Gujarati Section of this book, the papers of Prof. Sagarmal Jain, Prof. Madhusudan Dhaky, Samaṇī

Cinmayaprajnā, Prof. Premsuman Jain, Smt. Shobhna Shah, Dr. Jitendra Shah and Dr. Bharati Shelat are included. The speciality of these papers in Hindi/Gujarati is that they touch upon the original topic concerned with the purpose of the Seminar.

In the Paper, '*Jināgamoṅ Kī Mūla Bhāṣā Ardhamāgadhī Yā Śaurasenī* ?' (Whether the Ardhamāgadhī or the Śaurasenī as the Original Language of the Jain Canonical Texts ?') of Dr. Sagarmal Jain, various problems raised with reference to the original language of the Jaina *Āgamas* have been discussed in detail. First of all, on the basis of the *Āgamas*, like the *Bhagavatī*, the *Samavāyāṅga*, the *Aupapātika*, and the commentaries of the *Āgamas*, like the *Ācārāṅga-cūrṇī*, etc., it has been proved that it is the Ardhamāgadhī itself that was the original language of the Jaina *Āgamas*. To support this fact the evidences from the Digamabara works like the *Sūtraprābhṛta-ṭīkā* have been presented. But he also believes that this archaic Ardhamāgadhī of the *Āgamas* has been influenced by the word-forms of the Śaurasenī, and the Mahārāṣṭrī Prakrits gradually during the Māthurī and the Valabhī Redactions that occurred in different times. During the time of the Māthurī redaction by Ācārya Skandila in about the 4th century C.E.these Ardhamāgadhī *Āgamas* were influenced by the Śaurasenī Prakrit. This redaction of the *Āgamas* influenced by the Śaurasenī Prakrit is known by the name *Mathurā-Āgama*, and it has been accepted as authentic by the Yāpanīya sect. Refuting the statement presented in the name of Dr. Sagarmal Jain and Dr. Nathmal Tatiya in the *Prakṛta-Vidyā* that the Śaurasenī *Āgamas* themselves were later on transformed into the Ardhamāgadhī, it has been propounded that in reality the Ardhamāgadhī *Āgamas* themselves were later on converted into Śaurasenī Prakrit, and not the vice-versa. It is worh knowing that in the Valabhī Redaction of Nāgārjuna, a contemporary of the Māthurī *Vācanā*, and in the Second Valabhī *Vācanā* of Devarddhigaṇi of the fifth century AD. thȩ *Āgamas* were influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit. And, from those very Mahārāṣṭrī

influenced *Āgamas*, the Śaurasenī *Āgama*-like Śaurasenī works were composed on the basis of the Mahārāṣtrī-influenced Ardhamāgadhī *Āgamas*. Even today hundreds of gathas of the Ardhamāgadhī *Āgamas, Nandīsūtra, Āturapratyākhyāna, Mahāpratyākhyāna, Maraṇasamādhi*, and their *Niryuktis* are found in their Śaurasenī-influenced form in the Śaurasenī *Āgamas* and *Āgama*-like works. In the same manner, he has also criticized in his paper the statement, propagated in the **Prakṛta Vidyā** in the name of Prof. Nathmal Tatiya, that 'the Śaurasenī language is the mother of the Pāli language', and that 'the Buddhist works that were formerly in the Śaurasenī were burnt down and were written down in Pāli'. In this paper Dr. Sagarmal has proved, on the basis of the evidences from the Buddhist literature that the '*Buddha-vacana*' was in the Māgadhī Prakrit and later on its language was polished and the work was written down in the Pāli. Along with this he has also proved that the Pāli language is polished form of the Māgadhī itself, and it is nearer to the Ardhamāgadhī than to the Śaurasenī. It should be noted that in the Pāli, the peculiar characteristic of the Śaurasenī, viz., change of '*t*' to '*d*' and of '*n*' to '*ṇ*' is very mostly absent.

In the further lines of his paper, while discussing the problem as to which of the two languages - the Ardhamāgadhī and the Śaurasenī - is older, he has made it clear that the Śaurasenī of the Digambara works that is shown to be older than the Ardhamāgadhī, there is no trace of that Śaurasenī anywhere upto the fifth century of the Christian era, except in some parts of the dramas of Bhāsa (almost the earlier centuries of the Christian era). Even in the region of Mathurā too, that is said to have been the birth-place of the Śaurasenī, no word-forms possessing the characteristics of the Śaurasenī as mentioned in any of the Prakrit grammars are found in any single one of more than a hundred inscriptions right from the time of Aśoka upto the time of Śakas and Kuṣāṇas. In those inscriptions neither the

change of the medial '*t*' to '*d*', nor of '*n*' to '*ṇ*', which are the peculiarities of the Śaurasenī according to the grammars, are to be found. Thus, on the basis of sound evidence it has been proved that the original language of the Jaina *Āgamas* was Ardhamāgadhī only, and that it was on their basis only that the Śaurasenī *Āgamas* and the *Āgama*-like works were composed. The Mahārāṣṭrī-influenced Śaurasenī that is found in the Śaurasenī *Āgamas* of the later period is fairly posterior to the archaic Ardhamāgadhī. On the basis of the inscriptional and literary evidence the Śaurasenī is not proved to be older than the second or the third century of the Christian era; while the Ardhamāgadhī is anterior at least to the Aśokan inscriptions, i.e prior to the third or the fourth century before the Christ.

In his paper, '*Purā-tattva Aura Itihāsa ke Paripreksya meṁ Śaurasenī Bhāṣā kī Prācīnatā*' (The Antiquity of the Śaurasenī Language in the Context of Archaeology and History'), Prof. Dr. Madhusudan Dhaky, while deriding at its so-called antiquity, has written that 'It is a matter of great honour for the *Jina-śāsana* that the Śaurasenī Prakrit is a language of about 84,000 years back, and if it is so then what is astonishing if it becomes the mother of all the known and unknown languages of the world; what of that of the Ardhamāgadhī?' Prof. Dhaky has tried to show in the light of the historical facts that before 84,000 years from today not only the Eastern India, but wherever there was a settlement of primitive human beings there must have been the Stone Age only. From historical point of view, the rise of the human culture is not older than 10,000 years before the Christ. In whatever excavations that have been carried out in the Śūrasena region, nowhere is there found any indications of the period prior to the sixth or the seventh century before the Christ.

Whatever inscriptions of the Brāhmaṇic, the Buddhist and the Jain tradition are found in Mathurā, the oldest ones among them are those belonging to the period between the second century B.C. to the first century C.E. But their language is the one that resembles the Ardhamāgadhī, while it should have resembled the Śaurasenī. But, alas! Not a single evidence of such a sort is to be found. He further writes that if it be believed that the sermon of Ariṣṭanemi was in the Prakrit, then was the language of the Primal (First) Tīrthaṅkara Ṛṣabha, who is believed to have lived before infinite millions of years prior to him, and was born in Ayodhyā, the Old Avadhī? Or, was the sermon of *Arhat* Pārśva, who was born in Vārāṇasī, in the Old Bhojapurī ? In this way we find that Prof. Madhusudan Dhaky has, in his ironical style while tearing to pieces the claim of the antiquity of the Śaurasenī language in the context of the discoveries in the fields of archaeology and history, propounded that the claim of antiquity of the Śaurasenī language is baseless. It is but proved to be posterior to the Māgadhī.

Samaṇī Chinmayaprajñājī, in her paper titled 'Āgamoṁ kī Vartamāna Bhāṣā ("The Current Language of the *Āgamas*"), for the first time clarifying the real significance of the term *Ardhamāgadhī*, writes that the *Ardhamāgadhī* is the one in which some of the characteristics of the Māgadhī are found and some others are not, and in which some Deśya word-forms are also found along with the Māgadhī only. In fact, that is the Ardhamāgadhī in which along with word-forms of the Māgadhī other word-forms of the medieval dialects are also to be found. The Prakrit grammarians like Hemacandra and others have called it *Ārṣa* Prakrit also. Thus, in this paper, while determining the characteristics of the Ardhamāgadhī, Chinmayaprajñājī has on the ground of the presence of numerous *Ārṣa* usages and Deśī

word-forms, proved its antiquity too.

At the end of her paper she proves that there are in the language of the *Āgamas* the use of many word-forms of the *Deṣī* language that are not to be formulated according to the rules of the Prakrit grammars, and they have no relation also with the Sanskrit which the Prakrit grammarians have all along been going on believing as the *prakṛti* of the Prakrit. Although she does accept, at the end of her paper, that only the Ardhamāgadhī was the original language of the *Āgamas*, but that when their new redaction was done by Devarddhigaṇī in Valabhi, the old Ardhamāgadhī language of the *Āgamas* was influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit. Hence, the language of the *Āgamas* as available at present is neither fully Ardhamāgadhī nor the Mahārāṣṭrī. In other words, it is the Mahārāṣṭrī-influenced Ardhamāgadhī.

In the begining of his paper '*Śauraseni Prākṛta meṁ Prācīna* Bhāṣā Tattva' Prof. Dr. Premsuman Jain has shown, while proving the antiquity of the Śauraseni *Āgamas*, that the Digambara Jain Ācāryas composed in the first century B.C. a work named the *Kasāyapāhuḍa* and in the first century C.E. a work named the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* in the Śauraseni Prakrit. From this he proves that the Śauraseni Prakrit had come into existence in about the first century B.C. and that works have been going on composed further in this language upto the twelfth and thirteenth century.

Although he has placed the *Kasāyapāhuḍa* and the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* in the first century B.C. and the first century C.E. respectively as per the tradition, he has not presented in his paper any proofs whatsoever in this connection. On studying the contents of the *Kasāyapāhuḍa* and the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, it becomes clear that in any circumstances these works are not proved

to belong to a period prior to the fourth or fifth century C.E. The *Ṣaṭkhaṇḍāgama* clearly propound the principle of the *Guṇasthāna*, and the principle of the *Guṇasthāna* has come into existence after Umāsvāti of about the fifth century C.E. In my work, 'Guṇashāna Siddhānta: Eka Vivecana', I have proved this with evidence. Hence, the time of the Śaurasenī *Āgamas* that has been believed by Prof. Premsuman Jain is not logically consistent.

Dr. Premsuman Jain has written this also that since the Ardhamāgadhī language formulated by the mixture of the Śaurasenī and the Māgadhī Prakrits, was a new language and its name was also mentioned in some of the later *Āgama* works. But, the Śaurasenī by the mixture of which, according to him, the Ardhamagadhī is supposed to have been formulated, is the Śaurasenī of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, and it is itself influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit which is later than that. The extent to which the Śaurasenī of the *Āgama*-like works, such as the *Kasāyapāhuḍa* and the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, has been highly influenced by the Ardhamāgadhī and the Mahārāṣṭrī Prakrit, has been admitted by the Digambara Jain scholars like Prof. Adinath Neminath Upadhye and Dr. Hiralal Jain, themselves. In reality, till the rise of the Ardhamāgadhī in which the *Āgama* works, like the *Ācārāṅga* and others, of the old strata were composed, the Śaurasenī Prakrit had not even come into existence.

Again, as to the statement of Dr. Premsuman Jain that the Mahārāṣṭrī Prakrit is the developed form of the Śaurasenī Prakrit, it is to be thought over how much true it is from the linguistic point of view. In fact, just as the Śaurasenī Prakrit has develped from the medieval folk dialect, in the same way the Mahārāṣṭrī Prakrit has also developed from the south-western folk dialect. All other Prakrits have also developed from the folk

dialects of their respective regions. It is difficult to say which among them is older and which is later. In their forms of the folk dialects all of them were contemporary. Not only that, even the literary evidences too indicate that they were all contemporary. I have discussed this point in detail in my paper in this publication, and the readers may see it there.

Again, he has called the common Prakrit as the Śaurasenī Prakrit, but his belief that the Śaurasenī Prakrit is the original Prakrit and that the other Prakrits have evolved from it, is rather an illusory one. In fact, all the Prakrits are only the polished and literary forms of the respective folk dialects. That how his interpretation of the aphorism '*prakṛtiḥ śaurasenī*[5] on the basis of which he makes all these claims, is mistaken has been made clear in the paper of mine as also in those presented in this Seminar by many other scholars. Prof. Premsuman Jain also admits "the Śaurasenī Prakrit of the Digambara Jain works, and the dramatic Śaurasenī Prakrit utilized in the dramas, are the later forms of that very same original Śaurasenī Prakrit which is more similar with, and less different from, both these ones." But, from my viewpoint the problem to be thought about here is whether there ever was any third original Śaurasenī Prakrit, over and above that of the Digambara Jain works and that of the dramas; and, if it was there, whether there is any literary or archaeological evidence about it. In reality, there is no trace anywhere of such an original Śaurasenī. And, if it ever exitsted it cannot be called anything other than a folk dialect. Whatever Prakrit grammars were composed, have been discussing only

---

5. This aphorism occurs twice, as VIII.iv. 302 and 323, in the Siddha-Haima Śabdānuśāsanam of Hemacandra. In the first occurrence it states that in the particulars other than those which have been noted so far in connection with the Māgadhī, the dialect follows the rules of the Śaurasenī. In the second occurrence it states the same in connection with Paiśācī. NMK.

those Prakrits that existed in the form of literary languages utilized in the dramas. What more ? Have any of the Prakrit grammarians given any indication about the inscriptional Prakrit? Again, he has himself also admitted in his paper that in the Nāṭyaśāstra of Bharata, only seven languages, viz., the Māgadhī, the Āvantī, the Prācyā, the Śaurasenī, the Ardhamāgadhī, the Bāhlikā and the Dākṣiṇāty, are mentioned as such. From this it is but clear that along with the Śaurasenī there existed other languages also such as the Prācyā, the Māgadhī, the Ardhamāgadhī, the Āvantī, the Dākṣiṇatyā, and others. In fact, Āvantī and Dākṣiṇatyā had been former ancient designations of the Mahārāṣṭrī Prakrit itself. If all these languages existed contemporarily, then what is sense in saying that they originated from the Śaurasenī ? In reality all the Prakrits had been prevalent in their respective regions in the parallel form of the folk dialects. But one can believe in their chronological order in the form of literary Prakrit, which has been determined on the basis of the literature writtem in them. This order is - the language of the Aśokan inscriptions resembling the Māgadhī and the Pāli, the Ardhamāgadhī,[6] the Śaurasenī, the Mahārāṣṭrī, the

6. In a way the Pāli language is recognized in a form of the transformation of the Māgadhī Prakrit. From its very name the Ardhamāgadhī is a language with predominating Māgadhī. The place of the sojourn and sermons of Lord Mahāvīra had been chiefly in the contemporary Magadha country and its adjoining border states (i.e., Aṅga, Baṅga, Kaliṅga or Utkala, and some regions of the Kosala kingdoms). Hence, due to the mixture of some of the elements of the dialects of these other regions in Māgadhī Prakrit prominently, it was called the Ardha-Māgadhī. Thus, if we take into consideration the particular common peculiarities of the ancient Pāli and the ancient Ardhamāgadhī, it will be felt that they have no relation with the classical (Pāṇinian) Sanskrit, but they are deeply related with the Vedic Chāndas language, and from this point of view the Ardhamāgadhī Prakrit is considered to be older than the other Prakrits like the Śaurasenī, the Mahārāṣṭrī, etc. – K. R. Chandra.

Apabhraṃśa, etc.

Again, in his paper Prof. Premsuman Jain has propounded this also that "it is clear from history that the existence of the Śūrasena district in this country has been older than the establishment of the Magadha territory." But he has not put forth any evidence in this connection. Has he with him any historical evidence by which he can prove that the existence of the Magadha district is posterior to that of the Śūrasena district? From the viewpoint of the Jainism, before the 22nd Tīrthaṅkara Ariṣṭanemi, all other Tīrthaṅkaras from Ṛṣabhadeva onwards had been born in the Magadha or in the regions close by to it. During the period of Ariṣṭanemi, too, Jarāsandha, the King of Magadha has been recognized as a *Prati-vāsudeva*. Magadha itself had been the original centre of the Indian culture during the times of Mahāvīra, Buddha and Aśoka, its language Māgadhī was prevalent in the entire *Āryāvarta* and in the far South. The Aśokan inscriptions that are found all over India, are in that very Māgadhī. In fact, just after the fall of the Mauryas, during the period of the Kuśanas and the Śakas, this centre shifted from Pataliputra (Magadha) to Mathura (the Śūrasena region), and it was at that time that the Śaurasenī came into existence in the form of a literary language.

However, at the end of his paper Prof. Premsuman Jain has referred to Dr. Upadhye in admitting that several characteristics of the Ardhamāgadhī are intermixed in the language of the *Pravacanasāra*. In reality, not only in the *Pravacanasāra*, but all the ancient Jaina Siddhānta works, too, in the Śaurasenī have been influenced by the Ardhamāgadhī and the Mahārāṣṭrī. Even then,when Prof. Premsuman insists that the Śaurasenī has been the basic language of all the languages like the Ardhamāgadhī, the Mahārāṣṭrī, and the Śaurasenī of the dramas., it is worth considering how much valid it is. How can the Śaurasenī Prakrit of the Digambara Siddhānta works, in which the word-forms of the

Ardhamāgadhī and the later Mahārāṣṭrī and its Gāthās are found in profusion, be the basis of the Ardhamāgadhī, the Mahārāṣṭrī and the Śaurasenī of the dramas ? Is there extant at least a single literary or inscriptional evidence of the so-called Śaurasenī which he has been taking to be as basic Śaurasenī, a language of the medieval period? The truth, on the contrary, is that it had been nothing more than a regional dialect, and hundreds of such regional dialects were already there in the whole of India. Yes, there is surely this much truth in it that it was on the basis of these only that, in the course of time, the Prakrits like the Chāndas,[7] the Māgadhī, the Pāli, the Ardhamāgadhī, the Paiśācī, the Śaurasenī, the Mahārāṣṭrī and various Apabhraṃśas came to be evolved. The existence of the ancient linguistic elements that he has been showing in the Śaurasenī, these same can also be found in the Ardhamāgadhī and the other Prakrits. Hence, on the basis of them the literary Śaurasenī does not prove to be prior to the second century of the Christian era.

The research paper, *'Khāravela ke Śilālekhoṁ kī Bhāṣā ke Sātha Ardhamāgadhī Prākṛta kī Tulanā'* ('A comparison of the Ardhamagadhi with the language of the inscription of Kharavela') of Shrimati Shobhna R. Shah is also connected with the topic of this Seminar. In the beginning of this paper, she believes on the basis of the birth-place of Mahāvīra and the places of his sojourn that his

7. In his enthusiasm Prof. Sagarmal has dragged the *Chāndas*, i.e. the Vedic Sanskrit, too in the list of the Prakrits! He seems to be unaware that the date of that language as preserved in the Ṛgveda and other Vedic Saṃhitā texts has already been accepted as at least one thousand years prior to the times of Buddha and Mahāvīra, if not further as much older than the ancient Persian the language of the Avesta, which is supposed to belong to the fifteenth century BC.

- NMK.

In this context the term 'Prakrit' is not to be taken into a limited sense of MIA. dialects but it should be interpreted broadly in the words of Grierson who has divided the dialects of India from ancient to the modern times into primary, Secondary and Tertiary Prakrits, i.e. OIA., MIA. and NIA. in which the OIA. relotes to the prakrits of Vedik period. –KRC

language must have been the Māgadhī influenced by the word-forms of the dialect of that region and that of the adjoining regions. Possibly, it is on this basis that it has been called Ardhamāgadhī. A glimpse of this language of Mahāvīra is to be found in the ancient *Āgama* texts like the *Ācārāṅga*. In this comparative stydy, therefore, she has taken as her basis the edition of the *Ācārāṅga* edited by Dr. Chandra. Along with this, she has taken as the basic work of the Śauraseni, the *Pravacanasāra as edited* by Prof. Upadhye.

It is possible that some change has occurred in the language of these two works due to the effects of time. It is, therefore, expected that a comparative study of the language of both these works with the inscription of Khāravela would be helpful in understanding the original language of Mahāvīra, because the inscription of Khāravela belongs to the second/first century B.C. and its linguistic form has remained unaltered.

In this paper of hers, Shobhna Shah has analyzed the word-forms statistically, keeping in view the main characteristics of the Śauraseni, such as the change of the medial '*t*' to '*d*', and of '*n*' to '*ṇ*' etc. She shows that in the places where in the inscription of Khāravela the medial 't' is found to be as such unchanged to 100%, it is found to be so in the *Ācārāṅga* to 99.5%. On the contrary, in the *Pravacanasāra* in the places where the medial 't' is found to have changed to 'd' to 94%, in the similar places in the inscription of Khāravela not a single instance of the change of 't' to 'd' is to be found. Similarly, the process of the change of 'th' to 'dh' in the inscription of Khāravela is to 75%, in the *Ācārāṅga* to 83% and in the *Pravacanasāra* to 54%. In contrast to this the process of the change of '*th*' and 'dh' to '*h*' is in the Khāravela inscription, and in the *Ācārāṅga* is totally absent, while in the *Pravacanasāra* it is to about 45%. It follows from this that the language of the Khāravela inscription is nearer to that of the *Ācārāṅga*. In the same way, while in the Śaurasenī the dental 'n' is everywhere found to have changed to the cerebral 'ṇ', this process in the inscription of Khāravela is

mostly absent; in the whole inscription only one instance of the change of the dental '*n*' to the cerebral '*ṇ*' is found. In this way we can say that the language of the *Ācārāṅga* is nearer to that of the inscription of Khāravela, while the Śaurasenī of the *Pravacanasāra* seems to be a Prakrit quite different from it. The truth is that the main characteristics of the Śaurasenī are mostly absent in the inscription of Aśoka, of Khāravela and even those of Mathurā upto the second century C.E. It follows, therefore, from this comparative stydy that the Śaurasenī of the Digambara works has come into existence sometime after only the second century of the Christiaan Era.

In his research paper, '*Tīrthaṅkaroṁ ke Upadeśa kī Bhāṣā*' (The Language of the Sermons of the Tīrthaṅkaras'), Dr. Jitendra B. Shah has thrown more light upon it. On the basis of the numerous Śvetāmbara works and a few Digambara ones, he has proved that the language of the sermons of the Tīrthaṅkars was the Ardhamāgadhī. Along with this, he has also discussed in his research paper the problem as to whether the form of the divine sound as recognized in the Digambara tradition was linguistic or non-linguistic. On the basis of the *Dhavalā* and the *Ādipurāna* he has proved that the divine sound of the Tīrthaṅkaras was syllabic and not non-syllabic. In the *Harivaṁśa-purāṇa* this divine sound is shown to be of two types: in the form of a divine sound and in the form of the *sarva-māgadhī* language. It is proved from this that the divine sound of the Tīrthaṅkaras was but endowed with the characteristics of all the folk dialects of Magadha. In this way, on the basis of the extant references Dr. Jitendra B. Shah has proved that in the Digambara tradition the divine sound of the Tīrthaṅkaras has been recognized as syllabic, but it has been also accepted to have been in the form of the Ardhamāgadhī language.

Dr. Bharati Shelat has presented her paper in Gujarati on the topic, '*Maurya Samrāṭ Aśoka-nā Śilālekho-nī Bhāṣā Sāthe Ardhamāgadhī Prākṛta-nuṁ Sādṛśya*' (The Similarity of the

Ardhamāgadhī Prakrit with the Language of the Inscriptions of Maurya Emperor Aśoka').

At the commencement of her paper she has discussed about the widley extensive area of the location of the inscriptions of Aśoka. They are spread over in the whole of the ancient India. Beginning right from Shāhbājgaḍhī (District Peshawar, at present in Afghanistan) in the North-East to Dhaulī and Jaugaḍa (District Ganjam, at present in Orissa) in the South-East and from Kālasī (Dehradun) in the North to Jaṭing Rāmeshwara (District Chitaldurg in Karnatak) in the South, they are found everywhere. In fact, from the area of its spread out it is proved that these inscrirptions have been spread over the entire ancient India.

In her paper on the topic of the similarity of the Ardhamāgadhī Prakrit with the language of the Aśokan inscriptions, she has shown that as in the Ardhamāgadhī Prakrit, so also in the Aśokan inscriptions too, the process of changing 'y-' to 'a-' is to be found, as for instance, in athā (=yathā), āva (=yāvat). Among the Jaina *Āgamas*, the forms like, *ahāsutaṃ, ahākappaṃ, ahāmaggaṃ, āvakahā*, are to be found in the *Ācārāṅga*, the *Sthānāṅga*, the *Uttarādhyayana*, the *Kalpasūtra*, etc. Similarly, in the place of the word *'mati'* there is found the similar word *'mute'* in the Aśokan inscriptions. The word *'sammuti'* is found in both the Pāli *Suttanipāta* and the *Ācārāṅga*. In the Ardhamāgadhī Prakrit the termination '-āe' is used in the Dative Singular of the words ending in '-a'. This same situation is to be found in the Aśokan inscriptions. In the place of the termination *'-māna'* of the Present Particple, there is to be found the termination *'mīna'* in the Ardhamāgadhī *Āgamas* and in the Aśokan inscriptions. In this connection Prof. Mehendale has propounded this opinion also that in the inscriptions posterior to the Aśokan period, the termination *'mīna'* is nowhere to be found. It is proved from this that the Ardhamāgadhī literature is at least as much old as the Aśokan inscriptions. In the same way, there are in the *Āgamas*, use of the terminations *'-ttu'* and *'-ittu'* for the

Gerund, as for instance, *jāṇittu, caittu, vandittu.* This same termination '*-ttu*' is found in the Aśokan inscriptions too. Similarly, just as in the Ardhamāgadhī *Āgamas* mostly the 'l' replaces the 'r', as in *lukkha =rukṣa, elisa = yādṛśa, palichindiya = paricchindya, antalikkha=antarikṣa*, etc., in the same way we find the '*r*' replaced by the '*l*' in the Aśokan inscriptions also, as for instance in lājā (=rājā), lajuka (=rajuka).

In the Ardhamāgadhī Prakrit the voiced '*g*' replaces the unvoiced '*k*', as in *loga, asoga, āgāsa*, etc. This process is to be found in the Aśokan inscriptions of Jaugaḍa, Berat, etc. Similarly, the use of the word '*sāmanta*' in the sense of 'near' as found in the Ardhamāgadhī and the Pāli is to be found in the Aśokan inscriptions also.

In this way, by means of a comparison of numerous words, Dr. Bharati Shelat has tried to prove that there is much similarity of the language of the Aśokan inscriptions with the extant Jaina *Āgamas.* In contrast, we find that the peculiar characteristic of the Śaurasenī Prakrit, viz., the '*d*' in the place of '*t*' and the '*ṇ*' in the place of '*n*', is moshly not to be found in the Aśokan inscriptions. These inscriptional evidences prove that while the Ardhamāgadhī is at least as old as the period of the Aśokan inscriptions, the Śaurasenī of the Digambara Jaina *Āgamas* is posterior to at least the Jaina inscriptions of Mathurā of the second century of the Christian Era. Because in these inscriptions the peculiar characteristics of the Śaurasenī, like the change of medial '*t*' to '*d*' or that of the '*n*' to '*ṇ*' everywhere, are not to be found anywhere. From this it is proved that the Ardhamāgadhī language is older than the Śaurasenī language by at least five hundred to seven hundred years.

The point that emerges from the facts propounded in all these papers is that it is only the Ardhamāgadhī language that is the original language of the sermons of Lord Mahāvīra, and of *Āgamas* based on these sermons. At the same time, the Ardhamāgathī Prakrit has also been the oldest form of the literary Prakrit. Again,

it also follows from this that it was on the basis of the Ardhamāgadhī *Āgamas* that the Śauraseni *Āgamas* have been composed. It is true that in the later period the Ardhamāgadhī *Āgamas* were influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit; however, not only the Ardhamāgadhī *Āgamas* but also the Śauraseni *Āgamas* too have been influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit, because they were composed on the basis of the Ardhamāgadhī *Āgamas* themselves influenced by the Mahārāṣṭrī Prakrit. The language of the Jaina Śauraseni *Āgamas* is not the polished Śaurasenī, but rather the one influenced by the Mahārāṣṭrī. Again, on comparing the Inscriptional Prakrits with the Archaic Ardhamāgadhī, we find that while there is a profusion of the elements of the Ardhamāgadhī Prakrit in the inscriptions of Aśoka and those of Khāravela as also in the ancient Jain inscriptions, the peculiar characteristics of the Śaurasenī, such as '*d*' in place of '*t*' and '*ṇ*' in place of '*n*' are totally absent.

Therefore, it is the Ardhamāgadhī only, and not the Śaurasenī that has developed at a later period, that represents the oldest MIA. Prakrit (of course excluding Pāli).

The *Āgama*-like works that are composed in the Śaurasenī are posterior to the fifth centry C.E. because in them there are many such concepts, such as the fourteen *Guṇasthānas*, seven *Nayas*, sixteen heavens, *Sapta-bhaṅgī*, and others that have developed in the Jaina philosophy subsequent to Umāswāti in the fifth-sixth centuries C.E.

Again, the fact that hundreds of Gāthās of the Ardhamāgadhī *Āgamas* and of their *Niryuktis that* are found in the Śaurasenī *Āgamas* or the *Āgama*-like works, is itself a clear proof of the latter being subsequent works.

Hence, the original language of the Jaina *Āgamas* has been the Ardhamāgadhī only. It is alright that their Śaurasenī-influenced and Mahārāṣṭrī-influenced versions have come into existence later on. This is the truth and it should not be made a point of controversy.

In the opinion of some of the scholars that only the Śauraseni is the oldest Prakrit, and all the Prakrits have evolved from the Śauraseni, and the Ardhamāgadhi *Āgamas* have been based on the Śauraseni *Āgamas*; all these claims are not only false, but are liable to create discordance in the Jain society. The development of the Prakrit studies would be stunted and the tasks that are worth accomplishing would be defeated. It was for this reason that on the occasion of the concluding function of the Seminar Ācārya Srī Vijaya-Śilacandra Sūriji had to say in ingenious words that 'we have been sitting with many controversies, and have not yet been tired with them; and in the name of the language this new controversy is being mooted that might destroy the unity that has prevailed so far'. In reality, the Jaina philosophy and thinking has been a *harmonizing one*, and nourishes the principle of multiple viewpoints *(anekantavada)*. **Our task is to look for the harmony in the discordance, and not that of creating controversy.** Truth can not be attained through the eyes of obstinacies. The need of the day is to rise above the presuppositions and to understand and see the truth from the historical point of view. Social harmony will be established by it only. None of the scholars disagrees with the importance and the value of the Śauraseni language and the Śauraseni *Āgamas* in the field of Aryan languages, but the attempt at dislodging the Ardhamāgadhi and the Ardhamāgadhi *Āgamas* and to endow the Śauraseni *Āgamas* with greatness is not desirable.

In conclusion, I would wish to thank Ācārya Śri Vijaya-Śilacandra-Sūriji and Prof. K.R. Chandra for the opportunity they have granted me to go through the laborious papers of different scholars under the pretext of writing this INTRODUCTION. In this 'Introduction' I have tried to present in brief the scholars' thoughts in my own words, although I have made comments wherever I felt necessary. In case I have written or understood something wrongly, I request to be forgiven.

विषय-प्रतिष्ठापन

—डॉ. के. ऋषभ चन्द्र

जिनागम, उनकी मूलभाषा एवं उसका मौलिक स्वरूप

१(अ) जिनागम

जैन परंपरा के अनुसार तीर्थंकर तो अनेक होते हैं परंतु उनके उपदेश में साम्य होता है और कालानुसार जो अंतिम तीर्थंकर होते हैं उन्हीं का उपदेश और शासन प्रजा में चलता है। चूंकि श्रमण भगवान् महावीर अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं अतः उन्हीं का उपदेश इस काल में प्रमाणभूत माना जाता है। पूर्वकाल में जैन परंपरा के लिऐ '**श्रुत**' शब्द प्रचलित था परंतु अब वह स्थान '**आगम**' शब्द ने ले लिया है [शास्त्र में **श्रुतकेवली** शब्द का प्रयोग हुआ है न कि **आगमकेवली**] और उसका अर्थ है परंपरा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है [परम्परया आगच्छतीति आगमः] उसे ही **आगम** या **आगमशास्त्र** कहा जाता है।

इस समय '**आगम**' नाम से जो ग्रंथ मिल रहे हैं उनमें १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ चूलिकासूत्र (नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र) का समावेश होता है। इनमें से १२ वें अंग 'दृष्टिवाद' का लोप हो जाने से अभी कुल ४५ आगम मिलते हैं जो श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परंपरा में मान्य है। इनमें से बारह अंगों के लिए '**दुवालसंगगणिपिडग**' नाम आता है जो स्वयं भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है और अन्य आगमग्रंथ उनके ही उपदेशों के आधार पर गुरु-शिष्य परंपरा से श्रुतधरों द्वारा रचित माने जाते हैं। इसके बारे में **समवायांगसूत्र** में उल्लेख इस प्रकार आता है - **'इह खलु समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं....इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तं जहा...।**

जब किसी भी अंग का विषय प्रस्तुत किया जाता है उस समय ग्रंथ के प्रारंभ में ऐसा वाक्य मिलता है - ''तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते'' अर्थात् जिन भगवान् तीर्थंकर अर्थ-रूप में देशना देते हैं (और शब्दरूप में या सूत्ररूप में उसकी रचना उनके गणधर करते हैं)। इसी कारण यह परंपरा पायी जाती है कि '**अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं**' (आवश्यक निर्युक्ति, १९२) अर्थात् भाषाबद्ध सूत्रों की रचना गणधर करते हैं। आगमों की अंतिम वाचना

वलभी में भले ही देवर्धिगणि की अध्यक्षता में हुई हो और उन्होंने उसे लिपिबद्ध करके (लिखकर) पुस्तकाररूढ किया हो परंतु यह तो आगमों के सुरक्षा-कार्य को ही आगे बढाया है । देवर्धिगणि उनके रचयिता नहीं हैं । **आगम** तो प्राचीन ही हैं । **अंग-आगमों** का काल पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना ई.स. पूर्व चौथी शती का माना जाता है और वलभी की अंतिम वाचना का लेखनकाल ई.स. ४५३ या ४६६ माना जाता है ।

भगवान् महावीर का समय छठी-सातवीं शताब्दी ई.स. पूर्व माना जाता है । उनका विहार एवं उपदेश उस काल के मगध देश तथा उसके आसपास के प्रदेशों में हुआ था । अतः उनके उपदेश की भाषा **अर्धमागधी** भाषा के नाम से जानी जाती है । इस प्रकार उस भाषा का समय भी सम्राट् अशोक के राज्यकाल से पहले का ठहरता है ।

प्राचीनकाल में सारा '**श्रुतज्ञान**' या '**आगमशास्त्र**' गुरुशिष्य-परंपरा से मौखिक रूप में उपलब्ध होता था और यही प्रथा वैदिक परंपरा और बौद्ध परंपरा में भी विद्यमान थी । उस काल में यही प्रचलित परंपरा थी । श्रमण-परंपरा में शब्द के ऊपर (भाषाविशेष पर) भार या महत्त्व (जैसा कि वैदिक परंपरा में है) न होने के कारण समय के प्रवाह के साथ और स्थलान्तर के कारण मूल (अर्धमागधी) भाषा में परिवर्तन आते गये । इतना ही नहीं परंतु भगवान् महावीर की मूल भाषा का कोई व्याकरण ही उपलब्ध न होने के कारण उस भाषा का मौलिक स्वरूप अक्षुण्ण रूप में नहीं बच सका और **आगमों** की मूल भाषा पर लोकप्रचलित भाषा का प्रभाव बढ़ता गया । मूल भाषा ई.स. पूर्व छठी-पाँचवीं शती की होते हुए भी अधुना उपलब्ध **आगम** ग्रंथों की हस्तप्रतों और संस्करणों में ई.स. पाँचवीं - छठी शती (अंतिम वाचनाकार देवर्धिगणि के काल) की महाराष्ट्री प्राकृत का बहुत बड़ा प्रभाव देखने को मिलता है । भाषा की इस स्थिति के कारण कुछ विद्वान् **जिनागमों** का रचनाकाल प्राचीन नहीं मानकर ई.स. के बाद का मानने लग जाते हैं । परंतु पाश्चात्य विद्वानों डॉ. याकोबी, इत्यादि का स्पष्ट मत है कि आगमों के प्राचीनतम ग्रंथों का समय ई.स. तीसरी शताब्दी के पूर्व का है ।

आचारांग का प्रथम श्रुत-स्कंध, **सूत्रकृतांग** का प्रथम श्रुत-स्कंध,

उत्तराध्ययन के कितनेक अध्याय, **दशवैकालिक** के कुछ अध्ययन, **ऋषिभाषितानि** के कुछ अंश और **छेदसूत्र** भाषिक दृष्टि से प्राचीन माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हरेक ग्रंथ का भाषिक दृष्टि से अध्ययन किया जाने पर उसमें प्राचीन अंशों की प्रतीति होती है जो **भगवान् महावीर की मूलवाणी** के बहुत नज़दीक हो ऐसा स्पष्ट मालूम होता है।

मूल **अर्धमागधी** भाषा में यह परिवर्तन क्यों आया उसके कारण तो स्पष्ट हो ही चुके हैं। परंतु इस प्रक्रिया से ऐसा हुआ कि भगवान् महावीर (यानी उनके गणधरों) की भाषा का मूल स्वरूप **'आचारांग'** जैसे (आगमों में और अंगों में प्राचीनतम माना जानेवाला ग्रंथ, उसकी अपनी शैली और विषयवस्तु के कारण) ग्रंथ में भी अक्षुण्ण नहीं रहा।

कारण यह है कि बोलचाल की भाषा हमेशा देश और काल के अनुसार बदलती रहती है - यह प्रकृति का एक अटल नियम है। इसकी स्पष्टता के लिए तीन भाषाओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिससे यह तथ्य आसानी से समझ में आ जाएगा।

[अ = प्राचीन स्वरूप और ब = आधुनिक स्वरूप]

हिन्दी भाषा के उदाहरण -

(i) (अ) जगत अज्ञान की नाईं भासता है।

-(भाषायोगवाशिष्ठ : रामप्रसाद निरंजनी, संवत् १७९८)

(ब) जगत् अज्ञान की (भाँति) तरह भासित (प्रतीत) होता है।

(ii) (अ) श्रेणिक...गौतमस्वामी से पूछता भया। जनक ने राम को कहा महात्म्य देखो जो अपनी पुत्री देनी विचारी। तब गणधर आनन्दकारी...वचन कहते भये। तिनका सुयश सुनि, जा कारणते...रामकूँ अपनी कन्या देनी विचारी।

-(जैन पद्मपुराण का पं. दौलतरामकृत हिन्दी अनुवाद, संवत १८१८)

(ब) श्रेणिक...गौतम स्वामी से पूछने लगे। जनक ने राम का कौनसा माहात्म्य देखा जिससे अपनी पुत्री देने का विचार किया। तब गणधर

आनन्दकारी..वचन कहने लगे। उनका सुयश सुनकर उस कारण से...राम को अपनी कन्या देने का विचार किया।

(iii) (अ) रात व्यतीत भयी। आज्ञा पाय, रथ में बैठ, यमुनातीर जाय, वस्त्र उतार देह शुद्ध करी।

(प्रेमसागर, लल्लुजी लाल गुजराती, संवत् १८६०)

(ब) रात बीत गयी। आज्ञा पाकर, रथ में बैठकर, यमुनातीर जाकर, वस्त्र उतारकर देह को शुद्ध किया।

(डॉ. अम्बाशंकर नागर के सौजन्य से)

गुजराती भाषा के उदाहरण–

(अ) द्वारवती नगरीइ नारायण आपणउं राज्य पालइ। अन्यदा छ मासनइ पारणइ दुर्वासा रुषि वनमाहि आविउ। तिहाँ पारणानइ अर्थि नारायण तेडिवा गयउ। तिसिइं दुर्वासा कहिवा लागउ, 'रथ आणि। तिहां जु एकणि पासइ रुक्मिणी, एकइ पासइ तूं जूपइ, तु रथि बइसी ताहरइ घरि आवउं।'

–(शीलोपदेशमाला बालावबोध, संपा. ह. चू. भायाणी एवं र. म. शाह)

(ब) દ્વારાવતી નગરીમાં નારાયણ પોતાનું રાજ્ય પાળે છે. કોઈ વખત છ માસના પારણે દુર્વાસા ઋષિ વનમાં આવ્યા, ત્યાં પારણા અર્થે નારાયણ તેડવા ગયો ત્યારે દુર્વાસા કહેવા લાગ્યો, 'રથ આણ (લાવ) ત્યાં જો એક બાજુ રુક્મિણી, એક બાજુ તું જૂતે (જોડાય) તો રથમાં બેસી તારા ઘરે આવું.

–(डॉ. रमणीकभाई एम. शाह के सौजन्य से)

अंग्रेजी भाषा के उदाहरण–

(i) (अ) **Whan** that **Aprill** with his **shoures sote**,
The **droghte** of **Marche halth perced** to the **rote**,
And bathed every **veine** in **swich licour**,
Of which **vertue engedred** is the **flour**.
[Chaucer's Prologue to the Canterbury Tales-14th cent. A.D.]

(ब) **When** in **April** the (sote=) sweet **showers** fall
And (hath=) has **pierced** the **drought** of **March** to

the (rote=) **root**, and all
The **veins** are bathed in **liquor** (=moisture) of (swich=) such (vertue=) vitalising power
As brings about the **engendering** (=begetting) of the **flower.**

[Translated by Nevell Coghill, Penguin Books]
(Courtesy, Prof. Dr. M. A. Malagi)

(ii) (अ) He was a **veray parfit gentil** knight.
(The Description of Chaucer's Knight)

(ब) He was a very (veray = true), perfect (= complete or finished), gentle (gentil noble) knight.
(Conutesy, Prof. M. A. Malagi)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि विभाग (अ) में दिये गये वाक्यों की भाषा ही लेखक की अपनी स्वयं की मूल जबान है जबकि विभाग (ब) में दिया गया भाषिक स्वरूप तो सैकडों वर्षों के बाद की प्रजा की बोलचाल की चालू भाषा में परिवर्तित किया हुआ रूप है जो उस काल की प्रजा को आसानी से समझ में आता था ।

संसार की हरेक भाषा की यही स्थिति होती है, अतः **अर्धमागधी** के प्राचीन और मूल स्वरूप के साथ भी ऐसा ही हुआ है और यह कोई आश्चर्य या चिन्ता की बात नहीं है ।

भ. महावीर के उपदेशों की अर्थात् "जिनागमों की मूल भाषा

जिनेश्वर भगवान् **अर्धमागधी** भाषा में उपदेश देते थे उसके प्रमाण **श्वेताम्बर आगम** ग्रंथों में इस प्रकार मिलते हैं-

(i) भगवं च णं **अद्धमागहीए भासाए** धम्ममाइक्खइ ।
-समवायांगसूत्र, नं. ३४

(ii) तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स भंभसारपुत्तस्स..**अद्धमागहाए भासाए** भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ ।
– औपपातिकसूत्र, नं. ३४

(iii) गोयमा ! देवा णं **अद्धमागहीए भासाए** भासंति, सा वि य णं

अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिज्जति ।

भगवतीसूत्र, सूत्र नं. १९१

(iv) ...सव्वसत्तसमदरिसीहिं **अद्धमागहाए भासाए** सुत्तं उवदिट्ठं ।

- आचारांग-चूर्णि, पृ. २५५

(v) ...**अर्धमागधिकभाषया** तीर्थकृतं देशनाप्रवृत्तेः, ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिक-भाषालक्षणमनुसरणीयम् ।

- नंदीसूत्रवृत्ति (मलयगिरि), सूत्र नं. १०

दिगम्बर परंपरा के आगमसाहित्य में भी अर्धमागधी का उल्लेख -

दिगम्बर सम्प्रदाय का प्राचीनतम धार्मिक साहित्य **शौरसेनी** आगम के नाम से प्रसिद्ध है और उस में **कुन्दकुन्दाचार्य** की रचनाएँ शौरसेनी भाषा में मिलती हैं जिनकी दिगम्बरों के प्राचीनतम आगमग्रंथों में गिनती होती है । उनके ही एक ग्रंथ '**प्रवचनसार**' की भाषा के विषय में उच्च कोटी के दिगम्बर विद्वान् **डॉ. ए. एन. उपाध्ये** का यह मन्तव्य है कि '**प्रवचनसार**' की भाषा पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगमों की **अर्धमागधी भाषा** का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रंथ को प्राप्त हुई हैं। उनका कहना है कि—'**प्रवचनसार**' के शब्दों में स्वर-परिवर्तन, शब्दरूप, मध्यवर्ती व्यंजनों में परिवर्तन, 'य' श्रुति तथा कुछ विशेष शब्दावली, हेत्वर्थक और सम्बन्धक भूतकृदन्त के प्रयोग, इत्यादि **अर्धमागधी भाषा के समान** ही मिलते हैं (देखिए **प्रवचनसार,** भूमिका, पृ. ११३, ११४, ११५, अगास संस्करण, १९६४) । उपसंहार के रूप में वे संक्षेप में ऐसा अभिप्राय प्रस्तुत करते हैं -

Thus this dialect of "**Pravacanasāra**" (of Kundakundacarya) in short inherits many features of **Ardhamāgadhī** dialect of the **Śvetāmbara canon** - p. 115

इस ग्रंथ के अतिरिक्त अन्य **दिगम्बर शौरसेनी आगम** ग्रंथो में **श्वेताम्बर अर्धमागधी** आगम-ग्रंथों के उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलते हैं जो सभी विद्वान् अच्छी तरह जानते हैं ।

दिगम्बराचार्य श्रीविद्यासागरजी के अन्तेवासी विद्वान् लेखक **मुनिश्री प्रमाणसागरजी** ने भी अपनी पुस्तक **'जैन धर्म और दर्शन'**, १९९६ में तो स्पष्ट

तौर से लिखा है-

"उनका (भगवान् महावीर का) उपदेश सर्वग्राह्य '**अर्धमागधी भाषा**' में हुआ । यही उनका प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन था ।"-पृष्ठ नं. ४०

इन सब प्रमाणों से कितना स्पष्ट हो रहा है कि **जिनागमों** की रचना (मूल भाषा) **अर्धमागधी प्राकृत** भाषा में हुई थी न कि **शौरसेनी प्राकृत** भाषा में जिसका आजकल मिथ्या प्रचार किया जा रहा है ।

१ (ब) काल और प्रदेश के अनुसार भाषा में परिवर्तन आना एक स्वाभाविक प्रक्रिया

भारतवर्ष की ही नहीं परंतु संसार की कोई भी भाषा अपने उद्भव काल के पश्चात् शताब्दियों तक उसी रूप में जनभाषा की बोलचाल की भाषा नहीं रहती है । यदि ऐसा होता तो सर्वत्र प्राचीन भाषा ही व्यवहृत होती, और उसमें समय समय पर परिवर्तन नहीं आता । ग्रीक और लेटिन प्राचीन भाषाएँ थीं परंतु आज उनका स्थान यूरोप की विविध चालू भाषाओं ने- जर्मनी, फ्रैंच, अंग्रेजी, इत्यादि ने ले लिया हैं । उसी नियम से भारत की प्राचीन भाषाओं-छन्दस्, शिष्ट संस्कृत, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, इत्यादि भाषाओं का स्थान आधुनिक उत्तर भारत की मराठी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, बंगला, ओरिया, असमिया इत्यादि भाषाओं ने ले लिया और भविष्य में आनेवाली शताब्दियों मे उनका स्थान भी और कोई भाषाएँ ले लेंगी यह निश्चित एवं निर्विवाद है ।

इस दृष्टि से **जिनागमों** की मूल भाषा **अर्धमागधी** थी परंतु परवर्ती काल में जैन साहित्य का सृजन अर्धमागधी के स्थान पर शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं अपभ्रंश तथा उसके भी बाद में आजकल की आधुनिक भाषाओं में हुआ है जो विपुल प्रमाण में मिल रहा है । यह तो बात हुई उत्तरोत्तर भाषा-परिवर्तन की और उनमें साहित्य-निर्माण की ।

अब बात यह है कि जिस प्राचीन साहित्य का निर्माण जिस प्राचीन भाषा में हुआ हो वह भी तो उसी रूप में-अपने मौलिक स्वरूप में उपलब्ध होनी ही चाहिए, सुरक्षित रहनी ही चाहिए अन्यथा उस साहित्य की प्रामाणिकता में संदेह होने लगता है । इसी समस्या को लेकर **अर्धमागधी** भाषा में समय समय पर

जो परिवर्तन या बदलाव आ गये उनको प्रकाश में लाकर उपलब्ध हस्तप्रतों में जो प्राचीन पाठ (शब्द-रूप) मिलते हैं उनको पुनः स्थापित किया जाय तभी हम भगवान् महावीर की मूल जबान (वाणी) का दर्शन कर सकेंगे अन्यथा उनकी अपनी भाषा के बदले में हमें परिवर्तित भाषा ही पढ़ने को मिलेगी। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर नमूने के रूप मे **जिनागमों** में सबसे प्राचीन ग्रंथ '**आचाराङ्ग**', **प्रथम अध्ययन** का भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादन किया गया है और इस नवीन संस्करण की विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा ही नहीं की हैं परंतु आशा भी व्यक्त की हैं कि सभी आगम-ग्रंथों का इस प्रकार से सम्पादन किया जाना अनिवार्य बन गया है और यह कार्य किसी एक व्यक्ति से पूरा होना असंभव है परंतु उसके लिए अनेक विद्वानों का एक संपादन-मंडल (team) बनाया जाना चाहिए तथा उसके लिए एक विशेष शोध-संस्था की परिस्थापना की जानी अत्यंत आवश्यक है। जैन आचार्य एवं प्रबुद्ध जैन समाज इस पर गंभीरता से विचार करें यही अभ्यर्थना है।

ऊपर हमने आजकल की प्रचलित भाषाओं के दो स्वरूपों (प्राचीन एवं आधुनिक (अ) एवं (ब) कोष्ठक में) का दिग्दर्शन कराया हैं। अब उसी तरह **अर्धमागधी** भाषा के दो स्वरूपों के (मूल एवं परवर्ती काल का बदला हुआ रूप) नमूने आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

आचाराङ्ग, प्रथम श्रुत-स्कंध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक

	मूल रूप यथाशक्य संशोधित रूप	हस्तप्रतों और संस्करणों में उपलब्ध परिवर्तित* पाठ
	(अ)	(ब)
१.	सुतं मे आउसन्ते ! णं	सुयं मे आउसं ! तेणं (अथवा 'आउसंतेणं')
२.	भगवता एवमक्खातं	भगवया एवमक्खायं
३.	इधमेकेसिं नो सन्ना भवति	इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ

★। देखिए शुब्रिंग महोदय, आगमोदय समिति, जैन विश्वभारती एवं म.जै.वि. के संस्करणों के पाठ।

४.	तं अधा (अथवा अहा)- पुरत्थिमातो	तं जहा- पुरत्थिमाओ
५.	वा दिसातो आगतो अहमंसि	वा दिसाओ आगओ अहमंसि
६.	अधोदिसातो	अहोदिसाओ
७.	एवमेकेसिं नो नातं भवति	एवमेगेसिं णो णायं भवइ
८.	अत्थि मे आता ओववादिए	अत्थि मे आया उववाइए
९.	इतो चुते इध पेच्चा	इओ चुओ इह पेच्चा
१०.	से ज्जं पुन जानेज्जा	से जं पुण जाणेज्जा
११.	सहसम्मुतिया परवागरणेन	सहसम्मुइयाए (अथवा 'सह-संमइयाए') परवागरणेणं
१२.	अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा	अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा
१३.	से आतावादी लोकावादी कम्मावादी किरियावादी	से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई
१४.	एतावन्ति...परिजानितव्वा भवन्ति	एयावंति...परिजाणियव्वा भवंति
१५.	अपरिन्नातकम्मे खलु अयं पुरिसे	अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे
१६.	जोनीओ सन्धेति,...पडिसंवेदयति	जोणीओ संधेइ...पडिसंवेएइ (अथवा 'पडिसंवेदेइ')
१७.	भगवता परिन्ना पवेदिता	भगवया परिण्णा पवेइया
१८.	दुक्खपडिघातहेतुं	दुक्खपडिघायहेउं
१९.	जस्सेते	जस्से'ए
२०.	लोकंसि (एकहस्तप्रत में 'लोगस्सि' पाठ भी उपलब्ध है जो प्राचीनतम रूप है, देखो सूत्र नं. २०९ का पाद-टिप्पण, म.जै.वि. संस्करण)	लोकम्मि (अथवा 'लोगंमि', सूत्रनं. १३६)
२१.	कम्मसमारम्भा परिन्नाता भवन्ति	कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति
२२.	से हु मुनी परिन्नातकम्मे	से हु मुणी परिण्णायकम्मे

इन तुलनात्मक पाठों से कितना स्पष्ट हो रहा है कि (प्राचीन पाठ उपलब्ध

होते हुए भी) परवर्ती काल के प्राकृत व्याकरणों के नियमों के प्रभाव में आकर मूल भाषा कितनी बदल गयी। ई.स. पूर्व छठ्ठी से चोथी शती की भाषा ई.स. की पाँचवी शती की भाषा बन गयी। प्राकृत भाषा के विद्वानों को यह तथ्य समझाने की जरुरत नहीं है। इसीलिए **आचारांग** के प्रथम अध्यन का नमूने के रूप में भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादन करने की आवश्यकता महसूस हुई और उसका नवीन संस्करण प्रकाशित हो गया है। इसको (model) आदर्श बनाकर भावी संशोधक विद्वान् इस कार्य को आगे बढ़ाये तो इससे अधिक और क्या हर्ष एवं संतोष मेरे जैसे एक संशोधक विद्यार्थी को होगा ! हम यह आशा करें कि इस कार्य को हमारा समाज आगे बढ़ाएगा ! यदि विद्वान् मुनिश्री और आचार्यश्री इसमें रुचि लें तो यह कार्य सुगम हो सकता है और आगमों के सम्पादन में एक क्रान्ति आ जाएगी जिसकी अनिवार्यता सभी विद्वान् बहुत लम्बे समय से महसूस करते आ रहे है।

२. "प्रकृतिः शौरसेनी" सूत्र का वास्तविक प्रयोनन क्या ?

अभी अभी शौरसेनी भाषा के बारे में जो प्रचार किया जा रहा है उसके बारे में भी थोड़ा सा विचार करना अनिवार्य बन गया है। अनेक प्राकृत भाषाओं के विकास-क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी का क्या स्थान है यह जानना परमावश्यक बन गया है। संदर्भ को तोड़-मरोड़कर किसी सूत्र का अपना मनमाना अर्थघटन करना एक अलग बात है और अन्य भाषाओं के संदर्भ के साथ उसका अर्थ समझना अलग बात है। एकान्त सत्यांश अवश्य है, वह भी तब जब अन्य अन्तों का, पक्षों का, दृष्टियों का पूरा ध्यान रखा जाता है। यदि अन्य अन्तों को तिलांजलि देकर उनका सर्वथा बहिष्कार करके एकान्त कूटस्थ नित्य का रुख अपनाया जाय तो वह एकान्त-सत्यांश पूर्णतया असत्य और मिथ्या हो जाता है। ऐसी ही कुछ परिस्थिति इन कुछ वर्षों में आग्रह-कदाग्रह अथवा ऐसा कहिए कि जानबूझकर खड़ी की जा रही है।

प्राकृत व्याकरण का सूत्र है - **प्रकृतिः शौरसेनी**

इस सूत्र का संदर्भ से विच्छेद करके जोर-शोर से इस प्रकार का मिथ्या प्रचार किया जा रहा है कि "शौरसेनी प्राकृत" भाषा सभी प्राकृत भाषाओं की जननी, जन्मदाता, स्रोत-भाषा है। यही भाषा सारे भारत में पूर्वकाल में प्रचलित

थी और इसी भाषा में से अन्य प्राकृतों की उत्पत्ति हुई है ! इतना ही नहीं परंतु यह भी प्रचार किया जा रहा है कि सभी आधुनिक भाषाएँ भी इसी में से विकसित हुई हैं ।

चलो एक बार ऐसा भी मान लें तो क्या हर्ज है परंतु भाषाविज्ञान का जब यथायोग्य अध्ययन करते हैं तब यह बात उचित नहीं ठहरती । उपरोक्त सूत्र के पहले जो अन्य सूत्र दसवें और ग्यारहवें परिच्छेद (प्राकृत प्रकाशः, वररुचि) में दिये गये हैं वे इस प्रकार हैं-

(i) पैशाची १०.१, प्रकृतिः शौरसेनी १०.२

(ii) मागधी ११.१, प्रकृतिः शौरसेनी ११.२

यहाँ पर विवक्षित अर्थ यह है कि जो लक्षण शौरसेनी भाषा के बताये गये हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य लक्षण जो बताये जा रहे हैं वे पैशाची प्राकृत और मागधी प्राकृत पर लागू होते हैं । यहाँ पर **प्रकृति** का अर्थ है—दूसरी भाषा समझने के लिए **शौरसेनी** का आधार लिया जा रहा है और फिर अमुक अमुक परिवर्तन करने पर, जोड़ने पर और निकाल देने पर **पैशाची** प्राकृत और **मागधी** प्राकृत के लक्षण बन जाते हैं ।

वररुचि के व्याकरण में तो '**प्रकृति**' शब्द का प्रयोग हुआ है परंतु हेमचन्द्राचार्य अपने व्याकरण-ग्रंथ में इसी संबंध में **शौरसेनी** प्राकृत के लिए दिये गये सूत्रों के अन्त में जो सूत्र देते हैं उसे योग्यरूप से समझना होगा । प्रारंभ में **महाराष्ट्री** प्राकृत के नियमों का वर्णन करने के बाद **शौरसेनी** का वर्णन करते हैं और **महाराष्ट्री** प्राकृत की तुलना में उसकी जो विशेषताएँ हैं उनका वर्णन ८.४.२६० से २८५ सूत्र में करने के बाद अन्त में वे सूत्र नं. ८.४.२८६ में कहते हैं –

शेषं प्राकृतवत् ८.४.२८६

पुनः च हेमचन्द्राचार्य **मागधी** प्राकृत के नियमों का वर्णन करने के बाद अन्त में उसके लिए भी ऐसा ही कहते हैं कि –

शेषं शौरसेनीवत् ८.४.३०२

तब फिर इन सूत्रों में अन्त में जो '**वत्**' प्रत्यय है उसे '**प्रकृति**' शब्द के समानार्थ मानकर **शौरसेनी की प्रकृति प्राकृत** अर्थात् **महाराष्ट्री प्राकृत** बन

जाएगी । क्या इस तथ्य को मानने के लिए **शौरसेनी** भाषा के **प्रबल प्रचारक** तैयार होंगे ? यदि हाँ, तो **शौरसेनी भाषा** ही **महाराष्ट्री** प्राकृत में से विकसित हुई है यह उन्हें मानना पड़ेगा, ऐसा तथ्य मानने की उनकी तैय्यारी है क्या ?

हेमचन्द्राचार्य ने तो **पैशाची** के लिए भी ऐसा ही सूत्र दिया हैं -

शेषं शौरसेनीवत् ८.४.३२३

तब क्या यह माना जाय कि **पैशाची** भी **शौरसेनी** में से (उद्भूत हुई) जन्मी है। वररुचि ने इसी तथ्य को इस रूप में कहा है - "**प्रकृतिः शौरसेनी**", सूत्र नं. १०.२.

यदि ऐसा भी मान लें तो फिर नीचे जो कहा जा रहा है उसका क्या अर्थ होगा और तब फिर **शौरसेनी** मौलिक भाषा है, प्राचीन है, सभी प्राकृतों की जन्मदात्री है, इत्यादि, इत्यादि जो कुछ कहा जा रहा है, प्रचार किया जा रहा है, उसका क्या होगा ?

वररुचि के '**प्राकृत प्रकाश**' में परिच्छेद नं. १२ में दिये गये निम्न दो सूत्र ध्यान से समझने लायक हैं ।

(i) **शौरसेनी** १२.१ और (ii) **प्रकृतिः संस्कृतम्** १२.२

अर्थात् **शौरसेनी** प्राकृत के प्रचारकों के अनुसार इसका अर्थ होगा **संस्कृत** में से **शौरसेनी** निकली है, उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था, वह तो संस्कृत (रूपी माता) से जन्मी है और उसका मूल आधार ही संस्कृत है ।

यदि '**प्रकृति**' शब्द का अर्थ जन्मदात्री ले लिया जाय तो फिर हेमचन्द्राचार्य ने जो यह सूत्र दिया है उसका अर्थ क्या होगा ? - "**अथ प्राकृतम्**" ८.१.१ और उसकी वृत्ति में जो कहा गया है - "**प्रकृतिः संस्कृतम्**" ।

इसका अर्थ यही होगा कि **प्राकृत** की जन्म-दात्री **संस्कृत** भाषा है, संस्कृत भाषा में से **प्राकृत भाषा** निकली है और उसी नय से **शौरसेनी** भाषा **प्राकृत** में से निकली है ऐसा उनके "**शेषं प्राकृतवत्**" ८.४.२८६ सूत्र से किसी प्रकार के विरोध के बिना मानना ही पड़ेगा ।

इस सारे ऊहापोह (यानी इस संगोष्ठी) का उद्देश्य यही है कि व्याकरण

के किसी भी सूत्र को उसके संदर्भ से अलग-थलग करके अपनी मन-गढंत मान्यता के पक्ष में उसकी मिथ्या व्याख्या करनी कितनी उपादेय या हेय है इसे सहिष्णुता से समझने का सम्यग् एवं उपयुक्त प्रयत्न किया जाना नितांत आवश्यक है। मात्र सांप्रदायिक अभिनिवेश से प्रेरित होकर वितथ (असत्य) का प्रचार करने (non-academic and sectarian prejudice) से कोई भी व्यक्ति कितना भी महान् क्यों न हो वह इस पद्धति से उच्चकोटि का निष्पक्ष एवं प्रकाण्ड विद्वान् नहीं बन सकता है। पुनश्च इस प्रसंग में यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि **'विज्जाचरण-संपन्न'** महात्माओं तथा दूसरी ओर प्रतिष्ठित विद्वानों के इस प्रकार के दुराग्रह के द्वारा भद्र जन-समुदाय को भ्रान्ति में डालने से (गुमराह करने से) कौन सी विशिष्ट विद्याकीय उपलब्धि होने वाली है या जैन शासन की किस प्रकार की प्रभावना होगी। हजारों नहीं परंतु लाख-लाख रूपयों के लुभावने पारितोषिक प्रदान करके जैन व जैनेतर विद्वानों के मुख से अपने मिथ्या पक्ष को सबल बनाने का अनुपयुक्त एवं निरर्थक प्रयास एवं परिश्रम करने से भगवान् महावीर के अहिंसा और अनेकान्त एवं सत्य और अपरिग्रह जैसे उत्कृष्ट कोटि के सिद्धान्तों का सम्यक् प्रचार हो रहा है या उनके द्वारा बताये गये जीवन-मूल्यों के सिद्धान्तों की आशातना हो रही है यह तथ्य हम लोग इस पंचमकाल (कलियुग) में यदि समझ सकें तो जैन तीर्थंकरों के समतावाद और समन्वयवाद की अद्वितीय सेवा होगी - यही विनम्र अभ्यर्थना है।

खण्ड - १
SECTION - 1

अंग्रेजी विभाग
ENGLISH SECTION

A FEW OBSERVATIONS ON THE HISTORY AND DEVELOPMENT OF MIA. LANGUAGES AND DIALECTS

-Prof. Dr. H. C. Bhayani

(1)

The achievements of several hundred scholars of linguistics, who have worked, during the 19th and 20th Century, in the area of the historical i.e. diachronic study of Indo-Aryan (a subbranch of the Indo-European family) are quite well-known as most remarkable, quantitatively and qualitatively. The development of Indo-Aryan from the Vedic period down to the present day rigional languages, which is very conveniently divided into three consecutive stages, viz., Old Indo-Aryan, Middle Indo-Aryan and New Indo-Aryan has been definitively determined in all aspects and details, beyond any shadow of doubt, on the basis of massive factual data and unimpeachable evidence. The published literature on the subject is voluminous. Leaving apart individual and limited topical studies, even the general authentic surveys, convering all the aspects are nemerous.

(2)

For the present purpose we confine ourselves to making a few and brief observations about the history and development of Middle Indo-Aryan (MIA.), which is divided into three stages, viz., Early, Middle and Late. Among several scores of scholars whose critical studies have determined the course of development of MIA. over whole of its period of some fifteen hundred years, we may mention just passingly a few leading names (although it would invite the charge of serious omissions) : Hoernle, Lüders, Leumann, Geiger, Pischel, Brough, Hultzsch, Woolner, Norman, Caillat, Mehendale, Grierson, Bloch, Chatterji, Turner, Katre, Sen, Alsdorf, etc.

The Early MIA. includes Ardhamāgadhī, Aśokan dia-

lects, Pāli, Gāndhārī Prakrit and Early Inscriptional Prakrit. The Middle MIA. includes Archaic Māhārāṣṭrī and the later Standard Literary Māhārāṣṭrī, Paiśācī, and the Dramatic Prakrits, viz., Śaurasenī, Māgadhī and a few other regional and tribal dialects. The Late MIA. is represented by Apabhraṃśa.

Definite and fully reliable information about the nature, grammatical characteristics, prevalence as literary media during all the stages of MIA. is available to us from numerous critical studies.

(3)

Śaurasenī is known only as a dramatic Prakrit. Its specimens are found in the Dhruvās (used in dramas) described in Bharata's *Nāṭyaśāstra*, in the prose passages, in the speeches of female and other 'lower' charaters of the Classical Sanskrit drama and later on in a few Saṭṭaka type of drama like Rājaśekhara's *Karpūramañjarī* (10th Cent. A.C.). Numerous studies have made it quite clear that the Prakrit dialects used in Sanskrit dramas are far from reflecting the form of those dialects as they were actually spoken by the people (during the period of the Nāṭyaśāstra or preceding and succeeding it). They were just the stage dialects, i.e. only a few contrastive features, phonological and morphological, which were popularly associated with the speakers of those dialects (in contrast with the Standard Literary Māhārāṣṭrī) marked the speeches of the characters using those dialects. This conventional rule was observed by Sanskrit dramas to give a sort of 'realistic' touch. The *Nāṭyaśāstra* rule reflects the period when Śaurasenī was spoken by women, children etc. in the society. This in its turn indicates the dominance of the Mathurā region in the matter of literary culture at that period.

This fact explains the way Śaurasenī and Māgadhī were treated by grammarians like Vararuci, Hemacandra, etc. These grammars were prepared for the writers. So only two or three

phonological features and a minimum of morphological features were given as chracteristics of Śauraseni, Māgadhī etc. in contrast with the Standard Literary Māhārāṣṭrī. It should be quite obvious to even elementary common sense that dialects actually spoken by the people in society would differ from one another in many many phonological, morphological, syntactic and lexical features.

(4)

In the light of these observations, one is constrained to say that anybody who thinks (or rather 'feels') and claims for whatever reasons that Śauraseni was the earliest Prakrit displays a brazen ignorance of the history and development of MIA. The minimum he should do before putting forth such a claim is to read at the least the following few standard works :

Woolner : Aśokan Text and Glossary (1924),

R. Pischel : Comparative Grammar of Prakrit Languages (English Translation, 1965 edition).

J. Bloch : Indo-Aryan (English Translation, 1965).

S. Chatterji : The Origin and Development of the Bengali Language (1926); Indo-Aryan and HIndi (1960).

A Critical Pāli Dictionary.

O. Von Hinüber : Das ältere Mittelindisch in Überblick (1986)

C. P. Masica : The Indo-Aryan Languages (1991)

It is very unfortunate that even a few scholars here, holding lofty academic positions and who otherwise have serious research work to their credit have recently made some irresponsible and wild pronouncements in this matter, which consequently arouse a strong suspicion in our mind of unacademic motivations on their part.

(5)

In conclusion, it may be pointed out that the grammatical character of the language of any sacred book is only one of its aspects that is rather secondary. The primary importance attaches to the thoughts, ideas, tenets and in the instruction in particular that is contained in the sacred book.

The language is always more or less open to change during the transmission of the text over centuries. What was its original character – that fact has only a historical importance. So also the text's chronological position. What is most important is the spiritual guidance and inspiration that is provided by the text through its ideas and principles. And it should be also clearly understood that the text is subject to various and differing interpretations according to the socio-economic and cultural conditions changing over centuries. Actually no sacred text has one single ever-fixed meaning for the people of all the times and places. Changing interpretation to suit the changed cultural and spiritual viewpoints and needs is a sine-qua-non for the text to remain 'living' and relevant. The import and implications of Mahāvīra's words in his own times and in the present day cannot be quite the same. Ahiṁsā, Anekānta, Aparigraha, etc. are abstract concepts. They acquire concrete meaning and content in accordance with the cultural contexts, and particular individual's conduct.

(5)

I would conclude with a few general observations. We have enormous heritage of myths, why add one modern myth to it ? Our traditional term *itīhāsa* applied to works like the Mahābhārata which is a blend of myths and legends. It signified what was believed to have happened in the past. But after the western contact *itihāsa* was made synonymous with the English word 'history'. It acquired the latter's meaning-content. Conse-

quently the emphasis fell on the seecond constituent of the compound word *itihāsa* (=*iti*+*ha*+*āsa*), i.e. on *ha*. It came to mean not what was believed to have happened, but what actually and really *(-ha-)* happened. Hence the setting up and reconsrtucting of our history is inevitably to be based on critical investigation. And whatever reliable history we have freed from a huge mass of myths, legends and traditional beliefs is founded on strictly critical outlook and method.

Due to the fact that India reached great heights in creative speculation on thought and language during the early part of the first millenium B.C. a world-view became dominant in the subsequent centuries that worshipped the past and believed in the increasing decadence of the later periods. Hence the belief in the four consecutive *yugas* (in the Purāṇic tradition) and six *Ārās* (in the Jain tradition). But inherently there is nothing sacred about chronology as such. Just because it is earlier, something is not therefore necessarily better; just because it is later, something is not on that account a necessarily inferior. We should always remember the following keen observation, quite well-known, made by the greatest poet of the Classical India, viz., Kālidāsa, with respect to *Kāvyas* :

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ॥

This wise saying is quite relevent and apt in our religious context also. We can read *dharma* for *kāvya* in that citation.

The rise of *Bhakti* in the Classical period and its culmination in the later *santa-bhakta* movement demonstrates that in the history of every great civilization there can appear creative periods at earlier as well as later stages.

JAINA ĀGAMA TEXTS AND THEIR PROBLEMS IN EDITING

– *Satya Ranjan Banerjee*

In editing any Jaina canonical text, or for that matter any Prakrit text, from manuscripts in order to trace the original language of the text is a Sisyphean task. It is difficult because we do not get any autograph of the author, because manuscripts get corrupt from generation to generation, because of the ignorance of the scribes lots of scribal errors crept into the manuscripts, because of the indistinct writing of the manuscripts new imaginery readings we incorporated in the text, because of the lack of knowledge of Prakrit the correct vision for selecting the right readings of the text is blurned, and because of other sundry reasons. About the editing of oriental texts, what I have said in the preface to my edition of Kaccāyana's Pāli grammar, I want to reiterate the passage here :

"In judging the readings of the texts of the ancient authors, especially of poets and playwrights, a mechanical adherence to strictly grammatical forms or to rules of rhetoric, prosody or dramaturgy is as deceptive as is the blind allegiance to the text, in its entirety, of any particular manuscript, howsoever excellent or useful it might be. Collators of manuscipts best know how the original readings of ancient classics do undergo change of complexion, and sometimes beyond recognition , at the hands of grammarians, rhetoricians, prosodists and lexicographers; how blots and blemishes steal into the manuscripts through the negligence or ignorance of the scribes; how the intrusive hand of the poetasters, deluded by a chimerical and insolent hope of improving the author, inflicts a wound here and there, more serious than the mere negligence or ignorance of the copyists; how archaisms gradually give way to modern manners of expression at the hands of scholiasts long habituated to and well-conversant with familiar forms and phraseolo-

gies of the modern classics."

These are the facts which we should keep in mind, before we start editing any Prakrit or canoncial texts. The basic problems in editing a Prakrit or canonieal text are mainly (i) orthographic, (ii) dialectal, and (iii) selection of readings. Let us take these problems one by one.

(i) Orthographic

The orthography of manuscripts is sometimes responsible for the selection of a reading. The peculiar way of writing *na* and *ña*, *y* and *th*, *ṣ* and *ph*, *jh* and *bh* and many other conjuncts makes us responsible for a wrong selection. Unless one is thoroughly conversant with the calligraphy of Mss, one cannot do any justice to the readings of a Prakrit passage.

It was as early as 1865-66, Weber realized certain orthographic difficulties of the manuscript for selecting a particular reading. As a result, in his introduction to *Bhagavatī-sūtra*, he has laid down certain principles for editing Jaina canonical texts. Later on, Hermann Jacobi (*Ācārāṅga-sūtra*, London, 1882), Pischel (*Deśīnāmamālā*, Bombay, 1880) and many others have all faced the problems of editing Prakrit texts in general, and Jaina Āgama texts in particular. In modern times Hiralal Jain, Adinath Neminath Upadhye, Dalsukhbhai Malvania, Harivallabh C. Bhayani and many others have edited Jaina Āgama and Prakrit texts and have encountered insurmountable difficulties in selecting certain readings for the texts whenever they have collated a text from some manuscripts. I need not dwell upon this point here any more in detail.

(ii) Dialectal

While editing a Prakrit or a Jaina canonical text scholars like Jacobi, Pischel were puzzled in determining the language of the text. Jacobi has assumed a Jaina Māhārāṣṭrī dialect of those texts which are non-canonical on the one hand, but written by the Jains on the other. In a similar way, Pischel has postulated a Jaina

Saurasenī dialact of those Digambara Jaina texts which are written in Śaurasenī. At the time of Pischel, of course, no Digambara canonical literature was published, and so he had no comments on them. A few books by Kundakunda and Umāsvāti were available, and on the basis of those books he had established the theory of Jaina Śaurasenī. But recently the earliest canonical literature of the Digambara Jainas were published first in 1939 and then the whole lot was completed in subsequent years by 1960 after which most of the earlier editions were being reprinted. The first of the series is *Ṣaṭkhaṇḍāgama* which is written in a Śaurasenī dialect, which again is influenced by the older Ardhamāgadhī and Māhārāṣṭrī as well, which is called by Pischel as Jaina Śaurasenī. The assumption on these two dialects–Jaina Māhārāṣṭrī and Jaina Śaurasenī - is based on a notion that probably these two dialects are different from the normal features of the language as embalmed and treasured up by Prakrit grammarians. But how far they differ from Māhārāṣṭrī and Śauraseni is a moot question and how far these differences are systematic to form a separate language is another problem. These are the questions which normally puzzle the readers of Prakrit. With regard to the Inscriptional Prakrits and Pāli, the problem is not severe, but with the Prakrit and Apabhraṃśa and partly with the early literary specimens of some modern Indo-Aryan languages, the problem of readings is acute.

Although Inscriptions are written documents and we have more reliability in Inscriptions than in the manuscripts, the earlier writers do not offer the features of Prakrit that can go on a par with the Inscriptions. Take, for example, the drama of Aśvaghoṣa. We are all grateful to Lüders *(Bruchstruck Buddhistischen Dramen, 1911)* who has presented the fragments of some Buddhist dramas discovered in Turkestan and dated by him in the first or second century A.D. In his opinion, there are three types of Prakrit dialect employed by Aśvaghoṣa in his plays. To use his terminology, they are old Śaurasenī, old Māgadhī and old Ardhamāgadhī. The Duṣṭa's speech on three important points is similar to the Māgadhi of the

Prakrit grammarians; it substitutes l for r, reduces all three sibilants to *ś*, and has e in the nominative singular of masculine nouns in *a*-base. But it ignores the rules of the grammarians in cettain respects; hard letters are not softened (e.g. *bhoti* instead of *bhodi*), nor soft consonants elided (e.g. *kumuda-gandha*) when intervocalic. There is no tendency to cerebralize *n* and in *kālaṇa* the dental replaces the cerebral. Fuller forms of consonants remain in *hangho (hamho)* and *bambhaṇa* (*bamhaṅa*). Certain consonantal changes are irregular : *ry* > *jj* and not *yy*; śc > *cch*, *kṣ* > *kkh*, not *sk* or *cch*, *ṣṭ* > *ṭṭh* not sṭ, kiśśa > *kiśa*, *ahakaṃ* than *ahake*, *hake*, *hage* (Keith, *Sanskrit Drama*, p. 86)

But it is a point worth noting here that not a single grammarian has ever described any old features of Śauraseni, Māgadhī or Ardhamāgadhi. How could these scholars know the old features of these dialects ? Should they have to assume only because they are found in the manuscripts ? In the first or second century A.D., there could be some contemporary works from which also we could verify the older or archaic forms of Prakrit, but in none of these works, these archaic forms are available.

(iii) Selection of Readings

The selection of readings from a collation of Mss is a difficult task. We are all aware of the mistakes that a scribe makes while copying the Ms from the earlier one, or writing from the dictation of a person. The copyists may or may not be well-conversant with the language. As a result, the Mss may contain some mistakes which obviously defy the genuineness of the language. These mistakes are at times regarded as 'archaic' or earlier features of the language. Take, for example, the reading of the following verse from the *Uttarādhyayana-sūtra* (1.5)

kaṇakuṇḍagaṃ caittāṇaṃ viṭṭhaṃ bhuṃjai sūyare |
evaṃ sīlaṃ caittāṇaṃ dussile ramaī mie ||

Here the reading with long *ī* in *ramaī* is difficult to accept.

It is not archaic either, because in the previous line *bhuṃjai* is short. Such types of readings with long *i* in words like *vuccaī* (1.2), *nikkamijjaī* (1.4) are abundantly found in the Uttarādhyayana-sūtra. The point is that the readings with short *i* are also available in the foot-notes. Long to is the wrong selection of the reading.

In a similar way, if we take the reading of the very begining of the Ācārāṅga-sūtra in some editions, we see a somewhat strange situation. The reading *sutaṃ me āusaṁteṇaṃ* can easily be altered as *sutaṃ me āusaṃ teṇaṃ* which is also found in some editions. In this sort of reading the difficulty is with the euphonic combinations (sandhi) *santeṇa*. This *sort of sandhi* is not very happy in Prakrit. It does not indicate the "archaism" in the canonical texts, and this is not to be separated by any way, particularly when it is an adjective to the next word *Bhagavatā evaṃ akkhātaṃ*.

Similarly, in some of the commentaries of the canonical texts, where the words *teṇaṃ kāleṇaṃ teṇaṃ samayeṇaṃ* are found, some commentators tried so seperate *te* and *ṇaṃ* and also *kāle* and *ṇaṃ* and give some sort of explanations which do not go on a par with the original intended meaning of the text.

It is also seen that the same word has two different readings; such as, *lokaṃsi* vs *logaṃsi*, *aṇeka* vs *aṇega*, *loka* vs *loga*, *eka* vs *ega*, and so on. It does not seem to us certain whether the editor has followed any principle, The word *eka* is *ekkaṃ* or *eaṃ* in Prakrit, but when it is not *ekkaṃ*, the word becomes *ega* in Ardhamāgadhī, but *eaṃ* in Māhārāṣṭrī or Śaurasenī.

The violation of the rules of dental and cerebral n, the intervocalic *-d-* and *-dh-* and the retention of intervocalic *-t-* and many others are abundantly found. All these problems will remain as long as the principles of editing Prakrit text are not followed.

One of the noticeable things in some editions is the absence of *ya-śruti* in the Ardhamāgadhī texts. It should be borne in mind that *ya-śruti* has a long history in Indian languages. Pāṇini (400

B.c.) has recorded this phenomenon for the Sanskrit language (Pā. VIII 3.18). This is also found, of course, very rarely in Pāli probably as a remnant of Sanskrit (Geiger, *Pāli, Language* and *Literature*, §60). In Prakrit, of course, it is abundantly found, because some of the intervocalic consonants constantly drop out, as a result the remaining vowels after *a* or *a* have ā slightly *ya* like *śruti* which is linguistically also very very correct. So, I do not know how far it is right to think that there was no *ya-śruti* in the Ardhamāgadhī text (for a detailed study of the problem, see my article- ya-śruti in Prakrit, Jain Journal, Vol- XXVI No.3 January 1992, pp. 157-169.

Emendation :

It is my personal feeling that some sorts of emendations are necessary to edit a Prakrit text-if the Mss of a particular text do not help us much recording, of course, the variants at the footnotes (see my edition of Kramadiśvara's Prakrit Grammar 26, pp 19-22).

Conclusion :

The above are some of the specimens taken at random to show the linguistic problems of Prakrit textual crticism. It is indeed very difficult to form direct cut and dried principles by which grammarians are involved in the matter. In conclusion, I can only say that I have endevoured to present some problems of editing Prakrit texts, and leave with the readers to judge the value of some Prakrit passages presented in this dissertation.

THE MYTH OF "PRAKṚTIḤ SAṀSKṚATAM"

–Dr. Ram Prakash Poddar

In course of introducing his treatment of Prākṛta grammar Hemacandra postulates *"prakṛtiḥ Saṁskṛtam"* - Saṁskṛta is the root (prakṛti) and Prākṛta has been so called because it has originated in or come down from prakṛti viz. Saṁskṛta *(tatra bhavaṁ tata āgatam vā Prākṛtam).*

As regards the etymological meaning of the word *'Prākṛta'* - that which originates in (or belongs to) or derives from *prakṛti*, it is undoubtedly veritable. But the word 'prakṛti' has several meanings, the principal ones may be listed as –

i) that which is the primary or the fundamental, the primordial nature;

ii) subjects of a king, the common mass;

iii) elementary form, base or root of a word before being subjected to the grammatical functions;

iv) a woman or womankind.

(Vide Monier Williams : Saṁskrita-English Dictionary)

Hemacandra takes the word *'prakṛti'* here in the sense listed at serial number (iii) above and further extends the sense, not without strain, to comprise Saṁskṛta words before they undergo phonetic changes according to the rules of grammar and give rise to their corresponding Prākṛta forms. So Hemacandra is writing the grammar of a language which is not self-evolving but which is or, for certain reasons, which has been reduced to only a reflection of Saṁskṛta.

The great master does not make a secret of it. He proclaims that he is going to treat only the derivatives of Saṁskṛta *(Saṁskṛtayoni* or *tadbhava)* and not the *deśya* words which are not within his scope, Prākṛta, as already defined, being strictly limited to the derivatives of Saṁskṛta only.

But Hemacandra is not at fault in limiting the scope of the Prākṛatas. His predecessor Vararuci, the pioneer Prākṛta-vaiyākaraṇa, had already paved the way for such limitation. Although Vararuci never says that he is going to treat under Prākṛta only the derivatives of Saṁskṛta, he practically does the same and some of his commentators seem to be aware of it, for instance, Nārāyaṇa Vidyāvinoda, just after Maṅgalācaraṇa, defines Prākṛta as '*Saṁskṛtayoniḥ*', only then he proceeds ahead with his commentary.

Vararuci is content with treating only one Prākṛta which is the derivative of Saṁskṛta and aspires no further. As to the treatment of Paiśācī, Māgadhī and Śaurasenī in chapters X,XI and XII respectively, it has now been established beyond all doubts that the first two have been added by the commentator Bhāmaha, whereas the third is the handiwork of some unknown interpolator.

It goes to the credit of Hemacandra that though treating the subject on a limited scale, he is aware of its vastness and variety. With his Jaina background and his profound erudition he was well acquainted with the Languages of the Jaina canonical and post-canonical literature, the *Vaḍḍhakahā* of Guṇāḍhya and its adaptation by Saṅghadāsagaṇi and those of the Saṁskṛta - Prākṛta plays and last but not the least, of the prolific writings of the Jaina poets, such as Puṣpdanta and Svayaṁbhūdeva who were his near predecessors. So inspite of defining the scope of Prākṛta under treatment, he could not set aside the plentifulness of this language. So he had to introduce the sūtra *"bahulam"*. Besides, he framed supplementary rules for the other types of Prākṛtas – Śaurasenī, Māgadhī, Paiśācī, Cūlikāpaiśācī and above all the Apabhraṁśa, to make his grammar of Prākṛta as much comprehensible as possible. Still, he found that compared to the tame language he was going to treat, the language of the canons was too wild to be captured in the framework of his grammar. So under the sūtra 'ārṣam' he said that no rule of his grammar was going to be obligatory in respect of the language of the canons.

Now the question arises why and under what circumstances Vararuci undertook to write the grammar of Prākṛta which was no more than a docile handmaid of Saṁskṛta. How did it transpire that a language carried far and wide by the heads of different schools of early Jainism (and Buddhism too) and given the royal patronage by no less an emperor than Aśoka, gracefully and stately traversing the length and breadth of the *Āryāvarta*, nay, the *Dakṣiṇāpatha* as well, now obliterating and then assimilating the regional peculiarities and thereby assuming a gigantic form came to such a pass as to look like a pale reflection of Saṁskṛta?

Here there is a tale to tell. Language moves on two planes - one of the elites and the other of the masses. In the sixth century B.C. two great religious leaders emerged in India, viz. Mahāvīra and Buddha. They preferred to teach in the language of the masses and instructed their disciples to follow suit. The two leaders belonged to the east. Therefore, the language, they taught in, must have been that of the eastern region. It might be called the eastern dialect of that time. Gradually a bulk of religious litereture developed in this language. In course of time, it spread over a larger area and by the time of Aśoka, became the koine of his empire, covering the whole of Āryavarta and extending to the far South as well. The emperor got his edicts inscribed in this language, with slight phonetic variations, particularly in the Western and North-Western region, to suit the local phonetic habits. In the eastern and the central regions the language was almost uniform. In one of these inscriptions Aśoka calls himself *Māgadha Rājā* (Magadhan King). So the language of his edicts would very well have been Māgadhī, well-cultivated under the early Jain (and Buddhist) teachers and well-refined under the royal patronage.

With the downfall of the Mauryas and rise of the Śuṅgas the political and cultural centre shifted from the east to the west. This brought in its train a degradation of Magadha, Māgadhī language and also the Śramaṇic culture. As if in a revengeful spirit, Magadha was said to be a disgraceful place where even the Ganga

lost its purity. '*Māgadha*' became a derogatory term denoting a low-born servile messenger or a cheap panegyrist akin to the Sūtas and the Bandins. Māgadhī was branded as the language of the crooks and the rogues. A Śramaṇa was considered an ominous sight, '*Devānāṁ priya*', the laudatory epithet of emperor Aśoka, was said to mean a fool. Presumably it was under these circumstances that the Māgadhī of Buddhavacana had to wear the mask of "Pāli" and the Māgadhī of Jaina canons had to assume a qualification "*Ardha*" to escape the opprobrium on everything associated with Magadha and Māgadhī. Thus the main trunk of the Prākṛta languages, namely the Māgadhī having been weakened, the offshoots, i.e. the regional and temporal variations of Māgadhī, had to fall back upon Saṁskṛta for a prop, which at the time was gaining dimensions as a literary language. This marks the marriage of the peripheral Prākṛatas with Saṁskṛta, the latter gradually dominating over the former and the former gradually shedding off its angularities to be more and more adaptable to the latter. It is a historical fact that regional dialects under the influence of a dominant literary language gradually lose their individual angularities and tend to be cast on the model of the literary language.

The Prākṛtas with their simplification of the dipthongs, assimilation and *svarabhakti* of the conjuncts, and change of some medial surds to sonants proved a better vehicle for lyricism for which purpose it was widely patronised. In course of time softening of the surds gave place to total elision, besides, some more medial consonants were covered under the rule of elision for promoting the lyrical effect by augmenting the vowel sounds. Thus was born and brought up a new language of lyrics. Some good poetry having been written in this language in Mahārāṣtra, this language was given the appellation of Mahārāṣṭrī. With its growing literary use it occupied the principal place among the Prākṛtas and its zealots started giving a retrospective effect to its peculiarites in redactions of older texts. Grammars of Prākṛta such as the one found in the Nāṭyaśāstra or the one authored by Vararuci were formulated with the specific

purpose of teaching poets, writers and dramatists how to derive this language from Saṁskṛta and use the same in their works. So the aphorism about Prākṛta deriving from Saṁskṛta applies to this particular Prākṛta, viz. the so called Mahārāṣṭrī. Calling this Prākṛta *Saṁskṛtayoni* as commentator of Vararuci or Hemacandra did, would have been enough. But Hemacandra wanted to reach this conclusion through the etymology of the word Prākṛta. But here his imposition of the meaning Saṁskṛta on *'prakṛti'*, maybe by implication, is strained. Etymological meaning of Prākṛta is quite plain - that (language) which belongs to or which has come down from prakṛti - the general masses. Word *'prakṛti'* has been often used in the sense of the masses and application of this sense here is quite appropriate. Bharata in the *Nāṭyaśāstra* mentions three types of stage - rectangular, squire and triangular. The first two are for gods (temple complex) and kings (royal palaces). About the third he says - *śeṣāṇaṁ prakṛtināṁ tu karaṇīyaḥ*. Here the word *'prakṛti'* obviously means "the masses"[1]. Maybe Hemacandra deliberately shunned this etymology of Prākṛta because this would not have fitted with the plan of his grammar.

Those who did not limit the scope of the Prākṛta, as the grammarians did, held views quite opposite to *'prakṛtiḥ Saṁskṛatam'*. Rājaśekhara, a predecessor of Hemacandra says about Prākṛta, "*yadyoniḥ kila Saṁskṛtasya*" (Bālarāmāyaṇa I.4). Namisādhu in his commentary on Rudraṭa (II.12) expesses almost the same opinion.

This makes it quite clear that Hemacandra's postulate "*prakṛtiḥ Saṁskṛtaṁ, tatra bhavaṁ tata āgataṁ vā Prākṛtaṁ*" has a very limited and specific application and it should not be generalized.

---

1. cf. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
   Abhi. Śāk. (bharatavākya)

PLACE OF ARDHAMĀGADHĪ AND ŚAURASENĪ LANGUAGES OF JAIN CANONICAL WORKS IN THE EVOLUTION OF MIA. LANGUAGES

– *K. R. Chandra**

A comparative study of the language (phonological and morphological) of a few words and forms from the older Jain compositions like the Ācārāṅga[1] (Śwetāmbara Work) and Pravacanasāra[2] (Digambara Work), (hereafter Āçā. and PS.), i.e. of an Ardhamāgadhī (=Amg.) and a Śauraseṅī (=Śaur.) text with that of Pāli[3] language and the dialects of Aśokan (=Aśoka) inscriptions[4] is attempted here to ascertain the priority of Amg. and Śaur. in the MIA. dialects in this paper. The text of Pravacanasāra (Digambar work) is critically edited by Prof. Dr. A. N. Upadhye and the first Chapter of Ācārāṅga, Part I, is linguistically re-edited by the author of this paper.

Similar and common words and forms (with due variations) from the Ācā., PS., Pāli and Aśoka are comparatively tabulated below to ascertain the evolutionary stages of the Amg. and Śaur. Prakrits. By this method of investigation and minute studies it would be convincingly crystal clear that which of the two[5] Jain canonical Prakrit languages can be assigned the status of **Seniority**, Amg. or Śaur.

---

* Hon.Secy. Prakrit Jain Vidya Vikas, Fund, 375, Saraswati Nagar, Ahmedabad-380015

Comparative Table of Languages

No.	Sanskrit	Ācā. +	PS. +	Pāli	Aśoka +
1.	अज्ञान	अनाणाए 41	(See under ज्ञान) [विण्णाणं] 1.58	अञ्ञाण (सुत्तनि; संयुत्तनिकाय, etc.)	(See under ज्ञान and परिज्ञात [विनति (=विज्ञप्ति) कौशाम्बी]
2.	अनगार	अनगार 12,14,19, etc. (15 times)	अणगार 2.65 [अनगार nil]	अनगार अनागार (दीघनि; संयुत्तनि; मज्झिमनि; धम्मपद; सुत्तनिपात [अणगार nil]	—
3.	अनु (prefix)	अनु- (uniformly)	अणु- (uniformly)	अनु- (uniformly)	अनु- (uniformly)
4.	अनेक	-अनेक- अनेकरूवे 12,14, etc. अनेकरूवाओ 6 अनेका 26 [अणेग nil]	-अणेग- अणेगविधं 2.32 अणेगविधा 2.39 [अनेक nil]	अनेक [अनेग, अणेग nil]	—

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
5.	अन्य	-अन्न- अन्ने 13,14-62, (23 times) अन्नेसिं 56, etc. अन्नेहि 13, etc. [अण्ण nil]	-अण्ण- अण्णा 2.90 अण्णे 2.58 अण्णेहिं 2.56 अण्णो 2.11, etc. [अन्न nil]	अञ्ञ [अन्न अण्ण nil]	अन(=अन्न) (मान;का;धौ.) अंन(का;जौ;धौ.) अने(=अंने)(का.) अंनानि(का;धौ.) अंनानं (टो.) अञ(=अञ्ञ) (गिर;शाह;मान.) [अंण,अण्ण nil]
6.	अभि- (prefix)	अभि- अभिभूय 33 अभिसमेच्चा 22 [अहि- nil]	अभि-,अहि- अभिभूय 1.30; 2.50 अभिगच्छदु 1.90 अहिहुदा 1.63 अहिसंबंधं 1.89	अभि- (uniformly) [अहि- nil]	अभि- (uniformly) [अहि- nil]
7.	अर्थ	अत्थं 14,25, etc. (6 times) अत्थाए 52	अट्ठं 1.42 अट्ठे 1.50;3.33 अट्ठेसु 1.52;3.44 अट्ठेहिं 2.53 अट्ठो 1.18 अट्ठ - 1.87;2.32,etc. [अत्थ nil]	अत्थ (uniformly) [अट्ठ nil]	अथ(=अत्थ) (धौ;जौ;का;गि; शाह; मान.) अथ्र(=अर्थ)(मान.) अठं(=अट्ठं) (धौ; जौ; का; मान;शाह.) अठ्र (=अर्ठ) (शाह.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
8.	अहित [See हित also]	अहिताए 13,24,35,43, 51,58 [अहिद nil]	अहिदो 1.16 [अहित nil]	अहित (uniformly) [अहिद nil]	[See हित]
9.	आख्यात	अक्खात 1,19,26,41 [अक्खाद nil]	-अक्खाद- समक्खाद 1.36;2.6,62 [अक्खात nil]	अक्खात (uniformly)	—
10.	आगत	आगतो 1(7 times), 2 (2 times) (Total 9 times)	आगदं 2.84	आगत (uniformly)	-आगत- अनागत- (कल. 5)
11.	आत्मन्	-अत्त- अत्तानं 22 (3 times), 32 (3 times) -आता- आतावादी 3 [आदा, अप्पा nil]	-अप्प अप्पा- (41 times) अप्पगं 1.79; 2.59 अप्पाणं 1.27;2.34; 3.33, etc. -आदा- आद- 1.13;2.2; 3.52, etc. (5 times)	-अत्त- (i) अत्तानं (सुत्तनि; दीघनि; संयुत्तनि; धम्मपद) (ii) अत्तनो (धम्मपद) (iii) अनत्ता (संयुत्तनि;धम्मपद) (iv)अत्तवाद (दीघनि; मज्झिमनि; संयुत्तनि.)	(i) अत (=अत्त) (used in compounds) (धौ; जौ; मान; शाह;का;लौ.अर; रुम्मि;टो;राम.) (ii)अतानं(अत्तानं) (धौ; जौ;) (iii)अतन(ना) (=अत्तना)(टो.) (iv) आत्प- (in compounds) (गिर.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
			आदा 1.8;2.29; etc (20 times) [अत्ता, आता, nil]	(v)अत्ता (धम्मपद) अत्त-(used in compounds) [आता, आदा, अप्पा, nil]	[आदा, अप्पा nil]
12.	इति	इति 14,25, etc. (18 times)	इदि 1.78; 2.14; 3.4, etc. (8 times)	इति (uniformly) [इदि nil]	इति (धौ; लौ.अर; रुम; etc.) [इदि nil]
13.	इदानीम्	इदार्नि 33 [इदार्णि nil]	इदार्णि 2.94 [इदार्नि nil]	इदार्नि (uniformly) [इदार्णि nil]	इदानि(=निं) (काल.) इदनि (शाह;मान.) [इदाणि(=णिं)nil]
14.	इह	इध 1,14,25, etc. (10 times)	इह 3.26 [इध nil]	इध (usually) इह (seldom)	इध (धौ; गिर; ब्र.) (6 times) इह (शाह. 13.8 once only)
15.	उदक	उदक- उदकं 23,24, etc. (10 times) [उदय nil]	उदय- 1.43;2.6) उदयेण 1.12	उदक (uniformly)	उदक [उदय nil] उदु (धौ; जौ; का; टो.) उद (मान.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
16.	उपरत	उवरत 40 (twice) [उप-nil]	उवरद 3.59 [उप- nil]	उपरत (uniformly) [उव-nil]	उप-(uniformly) [रति] (शाह; मान; गिर; सोपा.) [स्नमरति] (शाह; मान.) [उव- nil] [उयाम-लति] (का.)
17.	एक	(i) एके 12, 23, 36, etc (8 times) एकेसिं 1,2,14 etc.(9 times) (ii) एके अप्पेके 15(66 times) 52(8 times) (iii) एगं पत्तेगं 49 [एय nil]	एकसमयम्हि 2.50 एक्कं 3.29 एक्कम्मि 2.10 एक्को 2.49,99 एगम्हि 2.51 एग- 1.59;2.72,etc. एगं(4 times) 1.49;2.5,14 एयग्गं 3.32 एयग्गगदो 3.32,42	एक (uniformly) [एक्क,एग, एय nil]	एक (uniformly) [एक्क, एग, एय nil]

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
18.	एतद्	एतं 33,45,56 (11 times) एते 9,18, etc. (8 times -एते इच्चेते 16,29,38, etc. (12 times) जस्सेते 9,18,31, etc. (7 times) [एदे, एदानि nil]	एदे 1.91;3.9,71,75 एदाणि 1.85 [एते, एताणि nil]	एतं, एते, एतानि (uniformly) [एदं, एदे, एदानि nil)	एत(=तं)एतं, एतकं,एतका,एतानि, एतम्हि (uniformly) [Forms with the word एद-nil]
19	कृत	-कड उज्जुकडे 19 [कद,कय nil]	कद ३.57 कय 2.70 [कड nil]	कत (unifromly) कट (seldom) अकट,कटाकट (विनयपिटक)	कट= (धौ; धौ;* जौ; जौ; शाह; मान; का; टो; मे;म; रुम्मि; ब्र;कौशा;लौ.अ.) (uniformly) कत (गिर. only) (कतव्यं, कतं, कता) [कद, कय nil]

★ रेखांकित धौ., और जौ. का अर्थ है वहाँ के पृथक् शिलालेख (Separate Edict is underlined)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
20.	गत	(see आगत)	(i) गय गयं 1.41 (ii) -गद आगद 2.84 सव्वगद 1.26,50 (iii) —गय सव्वगय 1.23; 2.5, etc.(4 times)	See आगत	See आगत
21.	चरति	-चरति अनुसञ्चरति 2, 6	चरदि 3.14, 18	अनुसञ्चरति (मज्झिमनि; संयुत्तनि.) सञ्चरति (दीघनि.)	—
22	जाति	जाति 7,13,45,58 (9 times)	[जाति nil] [जाद 1.20;2.61 5 times]	जाति [uniformly]	[जात uniformly] ञाति-(ञातिक) (शाह;मान;गिर; ब्र; सि.)
23.	जीवित	जीवितस्स 7,13,14,35, 43,51,58	जीविदमरणे 3.41 जीविदो 2.55	जीवित (uniformly)	जीविताय (टो;मथुरं,कोशा; मे; लौ.अर.)
24.	ज्ञा	जानति 56(4 times)	जाणादि 1.25;2.65,etc	जानाति जानेय्य	जानंतु (रु;स;बै.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
		-जानति 13,24, etc. (6 times) -जानतो 49 -जानितव्व 58 जानेज्जा 2 -जानेज्जा 17,30,47,etc. (6 times) [जाण nil]	(6 times जाणदि 1.29;2.53,etc. (13 times) जाण 2.52,80,87 जाणीहि 2.82 जाणित्ता 2.102,108; 3.31 [जान nil]	जानेय्यासि जानंतो जानेयु ञातब्ब (=ज्ञातव्य) [जाण nil]	जानिसंति (धौ; टे.) जानेयु (ब्र.) जानितु (=त्तु) धौ. [जाण nil]
25.	ज्ञात	नातं 1,2,14,25, 36,44,52, 59	णादं 1.58 णादा 1.42 [विण्णादं 2.38]	ञात अञ्ञात	[ञतिक] [ञातिक] (शाह;मान;गिर; ब्र.) [नाति-] (धौ;जौ;का;टे.)
26.	ज्ञान	नाण (अनाणाए) 41	णाण (uniformly) (णाणी 1.28,29, etc.) (अण्णाणी 3.38,43 विण्णाण 1.58)	ञाण (uniformly)	ञनं(=ञानं) (शाह.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
27.	नास्ति	नत्थि 1 [णत्थि nil]	णत्थि 1.71;2.8; 3.4, etc. [नत्थि nil]	नत्थि (uniformly) [णत्थि nil]	नथि(=नत्थि) (धौ;जौ;का.) [णथि nil]
28.	नित्य	नितिय 45 (twice) [निच्च णिच्च nil]	णिच्च 1.50; 2.53; 3.13,etc. [णितिय nil]	निच्च [नितिय nil]	निचा(=निच्चा) निचे (=निच्चे) (मान;शाह;का;गिर) [नितिय, णितिय, णिच्च nil]
29.	निर्वाण	निव्वाण 49	णिव्वाण 1.5;2.107	निब्बान (uniformly)	[निवुट](=निर्वृत्त) (मान;शाह.) [निवुटि] [=निर्वृत्ति] (मान;शाह;का.)
30.	नैव	नेव 17,22, etc. (21 times)	णेव 1.21; 2.93; 3.33, etc.)	ने'व (uniformly)	—
31.	परिज्ञात अपरिज्ञात	परिन्नात अपरिन्नात 1,5,9,16, etc.	[विण्णाण =विज्ञान] 1.58 [विण्णाद =विज्ञात] 2.38 [See ज्ञात and ज्ञान]	परिञ्ञात [पटिञ्ञा =प्रतिज्ञा]	[पटिञ्ञा पटिंना] (=प्रतिज्ञा) (धौ;जौ.) [विनति] (=विज्ञप्ति) (कौ;रानी.) [विंनपयितव्वे] (=विज्ञापयितव्यः) (सारनाथ)

Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
पश्यति	पासति 41	पस्सदि 1.29	पस्सति	पसति(=पस्सति) गिर. 1.6
पुनः	पुन 2 पुनो 41, 49	पुण 1.2; 2.12; 3.34, etc. पुणो 1.17; 2.1; 3.1, etc.	पुन	पुन (शाह; मान; गिर;का.) पुना(का.)
प्रणत	पणता 21	पणदो 3.3	पणत (पटिसंभिदामग्ग)	—
प्रतिपन्न	पडिवन्न 19	पडिवण्ण 2.98	पटिपन्न	पटिपन्न (अनूपटिपंने टो. 7.28)
भवति	(i)भवति 1,2,14, etc. (9 times) [हवति, होति, हवदि, होदि. nil]	(i) भवदि 3.36 (ii) हवदि 1.9;2.9;3.5, etc.(42 times) (iii) होदि 1.18;2.14; 3.7, etc. (11times) [हवति, होति nil]	(i) भवति (usually) (ii) होति (धम्मपद) [हवति, etc. nil]	(i) भवति (गिर.) (ii) भोति (शाह;मान.) (iii)भोतु(शाह.) (iv) होति (शाह;मान;का; गिर; धौ; जौ; सो; टो; मे; लौ; रम; सि.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
					(v) होतु(तू) (मान; का; धौ; जौ;ये.), etc. [हवति nil]
37.	भवन्ति	भवन्ति 5,8 etc. (22 times) [हवन्ति, होन्ति, हुवन्ति nil]	[भवंति nil] (i)हवन्ति 2.45;3.67 (ii) होन्ति 1.38;2.54; 3.54, etc. (5 times)	(i)भवन्ति (uniformly) (ii) होन्ति (frequent) in later works) [हवन्ति nil]	[भवंति nil] हुवंति (धौ;जौ.) [हवंति,होंति nil] [हवेयु](मान) [हुवेयु] (धौ;जौ; मान;काल.)
38.	यथा	अधा 1,2,19,49	जध 2.45 जह-3.25 जध- 3.4 etc. जधा 2.82, etc. जहा 1.30 जहा-1.68; 2.86; 3.29	यथा	अथा(धौ;जौ;धौ; जौ;का;ये; लौ.अ;रू; मथुरा) अथ(धौ; जौ; शाह;मान;ये;कौ; रू;मे;लौ.अ;मथुरा) यथा(गिर; का;ये; ब्र;सि;ज; मथुरा) यथ (शाह; मान;)
39.	रत	उवरते	उवरदपावो	रत	[रति] (गिर; शाह;मान.)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
		40 (twice)	3.59		[रती (सोपारा)] [लाति (र=ल) (= रति) का.]
40.	लोक	लोक 3, 5, 8,etc. (20 times) [लोग, लोय nil]	(i) लोग 1.16; 2.37; 3.53; etc. (9 times) (ii) लोय 1.23;3.26,etc. (4 times) [लोक nil]	लोक, लोकिक (only)	(i) लोक (usually) (32 times) (ii) लोकिक (21 times) (iii) लोग जौ.2.7(twice) [लोय nil]
41.	विनय	विनयं 62	विणयं 3.66 विणओ 3.25	विनय	विनय (बैराट)
42.	स्थित	ठित (गुणट्ठिते) 33	ठिदा 2.2	ठित	-ठि(थि)तिक(क्य) चिरठितिक,etc.] (मान; शाह; रू; टो; धौ; काल.)
43.	श्रुत	सुतं 1	सुय- (सुयकेवलि 1.33)	सुत	-स्रुत (बहुस्रुत) (गिर.) (बहुश्रुत(शाह.) बहुषुट (कालसी)

No.	Sanskrit	Ācā.	PS.	Pāli	Aśoka
44.	श्रुत्वा	सोच्चा 2,14,35 etc. (7 times)	सोच्चा 3.7 सुणिदूण 1.62	सुत्वा (usually) सुणिय (महावंश) सुणित्वा (जातक, महावंश)	सुतु (=त्तु) (काल; टो.) (श्रुतु (=त्तु) (शाह;मान.) [other forms with स्रु at (गिर.) (roots सु-(बैराट), षु-(काल.)
45	हित	See अहित	See अहित	See अहित	(i) हित- (uniformly) (48 times) हितसुखं(टो; मथुरा.) हितसुखे(टो;मथुरा) हितसुखये (शाह.) हितसुखाय (गिर.) हितसुखाये (धौ;का; जौ;टो.) (ii) हिद- हिदसुखये, हिदसुखाये (शाह; मान; काल; 5 times)

Resume

No.	Skt.	Amg. (Ācā.)	Pāli	Aśoka	Śaur. (PS.)	Phonology of Śaur.
१.	अज्ञान	अनाण	अञ्ञाण	[विनति]	अण्णाण	ज्ञ=ण्ण
२.	अनगार	अनगार	अनगार	–	अणगार	न=ण
३.	अनु-	अनु-	अनु-	अनु-	अणु-	न=ण
४.	अनेक	अनेक	अनेक	–	अणेग	न=ण क=ग
५.	अन्य	अन्न	अञ्ञ	अंन अञ्ञ	अण्ण	न्य=ण्ण
६.	अभि-	अभि-	अभि-	अभि-	अभि- अहि-	भ=भ =ह
७.	अर्थ	अत्थ	अत्थ	अत्थ अथ(=र्थ) अट्ठ अठ्र(=ठ)	 अट्ठ	 र्थ=ट्ठ
८.	अहित	अहित	अहित	हित हिद[6]	अहिद	त=द
९.	आख्यात	अक्खात	अक्खात	–	अक्खाद	त=द
१०.	आगत	आगत	आगत	आगत	आगद	त=द
११.	आत्मन् आत्मा	अत्त अत्ता आता	अत्त अत्ता	अत्त अत्ता आत्प[7]	अप्पा आदा	त्म=प्प (त्ता)= ता=दा
१२.	इति	इति	इति	इति	इदि	त=द

No.	Skt.	Amg. (Ācā.)	Pāli	Aśoka	Śaur. (PS.)	Phonology of Śaur.
१३.	इदानीम्	इदार्निं	इदार्निं	इदानि	इदाणिं	न=ण
१४.	इह[8]	इध	इध इह[9]	इध इह[10]	 इह	 ध=ह
१५.	उदक	उदक	उदक	उदु उद	उदय	द=द क=य
१६.	उपरत	उवरत	उपरत	[रति]	उवरद	त=द
१७.	एक	एक एग[11]	एक	एक	एक एक्क एग एय	क=क =क्क =ग =य
१८.	एतद्	एत	एत	एत	एद	त=द
१९.	कृत	कड	कत कट[12]	कत[13] कट कट-	कद कय	त=द =य
२०.	गत	गत	(See आगत	(See आगत)	गद गय	त=द =य
२१.	चरति	चरति	चरति	—	चरदि	त=द
२२.	जाति	जाति	जाति	[जात]	[जाद]	त=द
२३.	जीवित	जीवित	जीवित	जीवित	जीविद	त=द
२४.	ज्ञा= (=जान)	जान	जान	जान	जाण	न=ण
२५.	ज्ञात	नात	ञात	—	णाद -ण्णाद	ज्ञ=ण =ण्ण त=द

No.	Skt.	Amg. (Ācā.)	Pāli	Aśoka	Śaur. (PS.)	Phonology of Śaur.
२६.	ज्ञान	नाण	ञाण	ञान	णाण -ण्णाण	ज्ञ=ण =-ण्ण
२७.	नास्ति	नत्थि	नत्थि	नथि (=नत्थि)	णत्थि	न=ण
२८.	नित्य	नितिय[14]	निच्च	निच (च=च्च)	णिच्च[15]	न=ण त्य=च्च
२९.	निर्वाण	निव्वाण	निब्बान	नि-	णिव्वाण	न=ण
३०.	नैव	नेव	ने'व	—	णेव	न=ण
३१.	परिज्ञात	परिन्नात	परिञ्ञात पटिञ्ञा	पटिञ्ञा पटिंना	[विण्णाण] [विण्णाद]	ज्ञ=ण्ण त=द
३२.	पश्यति	पासति	पस्सति	पस(स्स)ति	पस्सदि	त=द
३३.	पुनः	पुन,पुनो	पुन	पुन,पुना	पुण,पुणो	न=ण
३४.	प्रणत	पणत	पणत	—	पणद	त=द
३५.	प्रतिपन्न	पडिवन्न	पटिपन्न	पटिपंन (पंन=पन्न)	पडिवण्ण	न्न=ण्ण
३६.	√भू					
(i)	भवति	भवति	भवति	भवति भोति होति[16]	भवदि हवदि[16] होदि[16]	भव=भव =हव, हो -ति=-दि
(ii)	भवन्ति	भवन्ति	भवन्ति होंति	हुवंति हुव[16]- हुव-	हवंति होंति	भव=हव =हो
३७.	यथा	अधा	यथा	अथा	जधा	य=ज

No.	Skt.	Amg. (Ācā.)	Pāli	Aśoka	Śaur. (PS.)	Phonology of Śaur.
				अथ यथा यथ	जहा	थ=ध =ह
३८.	-रत	-रत	रत	[रति]	रद्	त=द
३९.	लोक	लोक	लोक	लोक लोग[17]	लोग लोय	क=ग =य
४०-	विनय	विनय	विनय	विनय	विणय	न=ण
४१.	श्रुत	सुत	सुत	सुत, श्रुत	सुय	त=य
४२.	श्रुत्वा	सोच्चा	सुत्वा सुणिय	श्रु / ष्रु / (सु) -तु (=त्तु)	सोच्चा सुणिदूण[18]	त्वा=च्चा (तूण=दूण)
४३.	स्थित	ठित	ठित	[ठित,थित]	ठिद	त=द
४४.	हित	हित	हित	हित,हिद[19]	हिद	त=द

Findings of the above survey

Skt.(1)	Amg.(2)	Pāli(3)	Aśoka(4)	Śaura.(5)

A. Phonological Changes

(i) Initial Consonants, Single and Conjunct

Initial न	न	न	न	ण
√भव	भव	भव	भव	भव हव हो
ज्ञ	न	ञ	ञ, न	ण
य	अ[20]	य	अ	ज

Skt.	Amg.	Pāli	Aśoka	Śaura.
(ii) Medial Consonants, single unaspirate				
क	क ग (seldom)	क	क ग[21]	क ग य
त	त	त द[22]	त	द
Dental nasal				
-न-	-न-	-न-	-न-	-ण-
Single Aspirates				
थ	ध[23]	थ	थ	ध ह
ध[24]	ध	ध ह[25]	ध ह[26]	ह
भ	भ	भ	भ	भ ह

(iii) Conjuncts

ज्ञ	न्न	ञ्ञ	ञ्ञ न्न	ण्ण
त्म त्मा	त्त[27] त्ता[27] ता[30]	त्त त्ता	त्त त्प[29]	प्प[28] प्पा[28] द, दा[30]
त्य	तिय[31]	च्च	च्च	च्च

Skt.	Amg.	Pāli	Asoka	Śaur.
न्न	न्न	न्न	न्न	ण्ण
न्य	न्न	न्न	न्न	ण्ण
र्थ	त्थ	त्थ	त्थ ट्ठ	ट्ठ

B. Morphological terminations & suffixes

(i) Present tense termination of 3rd person

–ति	–ति	–ति	–ति	–दि

(ii) Past passive suffix

–त	–त –ड[33]	–त –ट[34]	–ट[32] –त[35]	–द –य

(iii) Absolutive suffix of Gerund

–त्वा	–च्चा [–त्तु[36]]	–त्वा –इय	–तु (=त्तु)	–च्चा –दूण[37]

Review of the Language*

1. न. Initial and medial dental nasal n (न्) is preserved in Amg. as is the case with Pāli and Aśokan dialects but in the Śaur. it is uniformly cerebralised to ṇ (ण्).

2. ज्ञ. Initial and medial jñ (ज्ञ्) become n and nn (न् and न्न्) respectively in Amg. but ṇ, ṇṇ (ण्, ण्ण्) respectively in Śaur. In Pāli ñ, ññ (ञ्, ञ्ञ्) are used and in the Aśokan dialects ñ, ññ (ञ्,

* For the explanations and clarifications(given here) see the following works of the author :-

ञ्ञ्) and n, nn (न, न्न्) are used for jñ (ज्ञ्). There is no replacement of jñ (ज्ञ्) by cerebralised ṇ, ṇṇ (ण्, ण्ण्) in Pāli and Aśokan dialects. The change of jñ (ज्ञ्) to ṇ (ण्) is a trait that developed not before the Christian era.

3. भू. The root bhū (भू) becomes bhav (भव्-) in conjugational forms in Amg., Pāli and Aśokan dialects. We come across seldom ho- (हो-) for bhav (भव्) in Pāli (which is a later development) and sporadic in the Aśokan dialects also. But in Śaur. along with bhav- (भव्) there are forms equally found with hav- and ho- (हव्- and हो-). Forms with hav- and ho- (हव्- and हो-) are of late origin and become popular at a later stage.

4.क. Medial -k- (-क्-) is preserved in Amg. It seldom changes to -g- (-ग्-) in Amg. and there are in the Aśokan dialects rare instances of -k- = -g- (क् = ग्) and that also in the West, i.e. in the Girnar version. But in the Śaur. we find usually -g- (-ग्-) and fairly sometimes -y- (-य्-) also for -k-(-क्-). This total dropping off of a medial consonant (and then the -y-(-य्) glide (-śruti)) became the main feature of the Mahārāṣṭrī Prakrit dialect (specially of Jain authors).

5. त. Medial -t- (-त्-) is preserved in Amg, Pāli and Aśokan dialects, -d- (-द्-) for it is sporadially found in the Northern and North-Western dialects of Aśoka but in Śaur. it is a regular feature and it is also replaced by -y- (-य्-) which is purely

1. परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी, 1995.
2. Restoration of the Original Language of Ardhamāgadhī Texts, 1994 and
3. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, 1992
(These three books are published by the Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad-380015.)

a trait of the Mahārāṣṭrī Prakrit.

6. In the case of the past passive form of the root kr. (कृ) the suffix -t- (-त-), i.e. the form kṛta (कृत) becomes kaḍa (कड) in Amg. In the Aśokan dialects we come across kaṭa (कट), i.e. the suffix -ta (-त-) is cerebralised to -ṭa (ट) at all the places except in the West, i.e. in the Girnar version where the original -ta (-त) = kata (कत) is prevalent. This trait of cerebralisation of -ta to -ṭa (then voicing to -ḍa (ड)[38]) is reflected in Amg. but not in the Śaur. of Pravacanasāra.

7. ध Medial -dh- (-ध्-) is preserved in Amg; Pāli and Aśokan dialects. In Pāli it is sporadically replaced by -h- (-ह्-) and in the Aśokan dialects we find seldom -h- (-ह्-) in the North-West only. Changing of medial aspirates to -h- (-ह्-) is a regular feature of the Mahārāṣṭrī Prākṛta.

8. भ. Medical -bh- (-भ्-) is preserved in Amg; Pāli and Aśokan dialects but in Śaur, it is changed also to -h- (ह्-). This trait finds currency not before the Christian era.

9. त्म. The -tma (-त्म) of the word ātman (आत्मन्) and ātmā (आत्मा) becomes -tta, -ttā- (-त्त,-त्ता-) in Amg., Pāli and Aśokan dialects. In the West, i.e. at Girnar we find -tpa (-त्प=आत्प) also. In Śaur. there is universally -ppa-, -ppā (-प्प, -प्पा) which is a later development (and then a regular feature of MIA. dialects). The replacement of -ta, -tā (-त,-ता) by -da, -dā (-द, -दा), i.e. the voicing of the original -t- (-त्-) (i.e; आद, आदा for आत्म, आत्मा) is still of a later stage in the evolution of MIA. dialects.

10. त्य. Conjuncts like -tya (-त्य), i.e. a consonant (unaspirate) followed by -ya (-य) is simplified at the earlier stage and later on its constituents are assimilated. In Amg. we find -tiya (-तिय) for -tya (-त्य) which speaks of an earlier stage of MIA.

whereas -tya = -cca (-त्य=च्च) in Pāli and Aśokan dialects reflects a later stage.

11.-न्न,न्य. Conjuncts -nn- and -ny- (-न्न्, -न्य्) are changed to -न्न् only in Amg. In Pāli there is ññ (ञ्ञ्) for nya (न्य्) but in Aśokan dialects both ññ and nn(ञ्ञ् and न्न्) are traced and it should be especially noted that in the East (धौली, जौगड, etc.) we find n-, -nn- (न्-, न्न्-,) for jñ (ज्ञ्) in the Aśokan inscriptions and this trait of the East seems to have been inherited by Amg. from anciemt times.[39]

12. र्थ The conjunct -rth- (-र्थ्-) becomes -tth- (-त्थ्-) in Amg., Pāli and Aśokan dialects, though there is -ṭṭh (ट्ठ्) also in the Aśokan dialects but in Śaur. there is ṭṭh (ट्ठ्) only.

13. -ति. The termination -ti (-ति) of the present tense of III person sg. is preserved in Amg., Pāli and Aśokan dialects. But it is voiced to -di (-दि) in Śaur. which speaks of its later stage in MIA.

14. त्वा. There is -ccā(-च्चा) for -tvā (-त्वा) in Amg. In Pāli there is -tvā (-त्वा) and in it there is -tūna (-तून) also (though not usual) available but it is of later origin. It is found in the 'Thera -Therī Gāthā' and the 'Jātakas'.[40] In the Aśokan dialects there are employed -tya and -tyā (-त्य, -त्या) which are precursors of -cca and -ccā (-च्च, -च्चा). In this case the instances are आगाच (=आगत्य, रुम्मिनदेई) and अधिगिच्य (=अधिकृत्य, कल. 6). In Śaur. there are -ccā and -dūṇa (-च्चा, -दूण), the suffix -dūṇa is of later stage and it has evolved from -तून and still later on it changes to -ūṇa (-ऊण) in the Mahārāṣṭrā Prākṛta.

To sum up the whole discussion there is retention (generally) of medial consonants, dental nasal n (न्), conjunct nn (न्न्) and the jñ (ज्ञ्) is changed to n, nn, (न्, न्न्) in the Amg. Prākṛta and therefore,

the language of the text of Ācārāṅga (re-edited linguistically) has close affinity with Pāli and Aśokan dialects (especially of the East). The conjunct -tth (-त्थ) for -rth (-र्थ) is there in Amg. as in Pāli and the -ḍa (-ड) (kaḍa कड) of Amg. is like kaṭa (कट) found in Aśokan dialects (which is later on voiced to kaḍa, (कड). The -tiya for -tya (तिय ← त्य), i.e. simplification by anaptyxis is also archaic because -cca for -tya (च्च ← त्य), i.e. assimilation in such cases is a feature of later stage. All these characteristics speak of the antiquity of Amg.

On the other hand in the Śaur. dialect medial consonants k, t, th (क्, त्, थ्) are voiced to g,d, dh (ग्, द्, ध्) respectively. There are equally instances of the replacement of g and d (ग्,द्) by y (य्), i.e. dropping off of medial consonants. Aspirates th, dh, bh (थ्, ध्, भ्) are additionally changed to h (ह्). Dental nasal n (न्), nn (न्न्) and jña (ज्ञ्) are regularly changed to ṇ and ṇṇ (ण्, ण्ण्). The suffix -dūṇa (-दूण) of absolutive is of late origin from its earlier predecessor -tūna (-तून). Thus the language of PS. i.e. its Saur. is one stage farther than Amg. in the evolution of MIA. dialects. It needs not now to explain any more that Amg. is Senior to Śaurasenī.

Hence, over all if the Prakrit dialects of old Jain literature (excluding Apabhraṁśa) are to be placed in different stages of evolution of MIA. then their position would be successively as follows :- (i) Ardhamāgadhī (older portion), (ii) Śaurasenī (older portion) and at the last would come (iii) Mahārāṣṭrī. Therefore, need not to say that the Śaurasenī (Āgama-like or substitute Āgama literature of the Digambaras) is posterior to the Ardhamāgadhī (literature of the Śvetambarā Āgamas). And on this account Prof. Dr. A.N.Upadhye[41] had to observe after vast and minute studies that....

..."Their (Digambara's) works are written in a language which inherited many dialectal characteristics of Amg. in which the traditional canon was originally preserved."

I hope here comes the **END** of the baseless (artificial non-factual

and non-warranted) controversy about the priority of Śaurasenī over Ardhamāgadhī.

Foot-Notes

1. Ācārāṅga, Prathama Śrutaskandha, Prathama Adhyayana : ed. K.R.Chandra, Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad, 380015, 1997.
2. Pravacanasāra : ed. A.N.Upadhye, Shrimad Rajachandra Ashrama, Agāsa, (Anand), 1964.
3. Pāli-English Dictionary by T.W. Rhys Davids, P.T.S., London is used for this study.
4. Aśoka Text and Glossary, Part II, A.C. Woolner, The University of the Panjab, Oxford University Press, Calcutta, 1924; अशोक के अभिलेख, डॉ. राजबली पाण्डेय, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि.सं. २०२२.
5. The reason for selecting these two texts is that the Ācārāṅga, I, Ch. 1 is the most ancient text of the Amg. canon and the preference for this edition is as it is critically and linguistically re-edited. The Pravacanasāra is also critically edited by Dr. A.N. Upadhye and it is traditionally held by the Digambaras as one of the most ancient works of their canonical literature (called by M. Winternitz as "Secondary or Substitute canon) in the Śaur. language.

\+ Figures in the table under Ācā. and PS. indicate the sūtra No. and the chapter and verse No. respectively and under Aśoka the abbreviations of the names of Inscpns., as indicated in the edition of Dr. R.Pandey.

6. In the North and North-West only.
7. In the West only
8. Indeclinable इह of the classical Sanskrit has evolved from इध, the original Vedic archaic form.
9. Seldom available.
10. In the North-West.
11. Seldom.
12. Seldom
13. कत at Girnar only, otherwise the prevalent form at all the other places is कट.
14. In the Amg. there is anaptyxis - 'svarabhakti' which indicates an earlier stage of MIA.
15. In the Śaur. there is assimilation of the conjunct which is a feature of later stage of MIA.

16. $\sqrt{}$ भू, हव and हो (in place of भव्) are of the later stage of MIA.
17. In the East.
18. -दूण is precursor of later -ऊण.
19. In the North and North-West but that also seldom.
20. Generally in indeclinables.
21. In the East but sporadic
22. In the North and North-West but used sporadically.

In the word यथा only.

ह in इह of Skt.

25. In the word इह, seldom available.
26. In the North and North-West used sporadically.
27. Preceded by short vowel.
28. Preceded by short vowel.
29. In the West only at Girnar
30. Preceded by long vowel.
31. Of earlier stage.
32. Usually in the form कट (←कृत) of root कृ.
33. In the form कड (←कृत)
34. Seldom and at a later stage.
35. In the West at Girnar only.
36. Used equally in the Amg. works.
37. Its predecessor is - तूण and later on -ऊण, the suffix of the absolutive participle in Mahārāṣṭrī.
38. The ṭa (ट) suffix is voiced to ḍa(ड) in Amg. in a number of cases, for example gaḍa, maḍa (गड, मड), etc. when ta (त) is preceded by ṛ (ऋ).
39. See pages No. 72 and 73 of the author's work-परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी, 1995.
40. See G. Geiger, Pāli Literature and Language, University of Calcutta, 1956.
41. See प्रवचनसार (ed. A. N. Upadhye, AGASA, 1964), p. 118.

A GLIMPSE OF SOME OF THE ARCHAIC LINGUSTIC TRAITS INHERITED BY ĀGAMIC ARDHAMĀGADHĪ FROM VEDIC CHANDAS SPEECH

– *Dr. N. M. Kansara*

A detailed study of the syntax of the Vedic *Saṁhitās*, the *Brāhmaṇas* and *Upaniṣads* and the Epics shows clearly a vigorous synthetic language in which the analysis of syntactic concept was going on and gradually moulding the language along the natural path. The language of the Vedas was felt to be something too sacred to be profaned by any vulgar change. when the great Pāṇini analysed the language of his days it had changed considerably since the Vedic days even though religion had been a conserving force for some considerable time. Hence some of the constructions of the Vedic hymns appeared strange to Pāṇini himself and very often he merely admitted that in the Vedas the usage is varied *(bahulam chandasi P.Aṣṭ. 2.4.39,73,76; 3.2.88; etc.).*

In compounds an *Anusvāra* is sometimes inserted, e.g. '*araṁkṛtam*' (RV. 8.1.10), '*dūraṅgamam*' (YV. 34.1); similarly, in Ardhamāgadhī we have '*niryaṁgāmī*', '*sāmāiyamāiyāiṁ*', '*annamanna*', '*dīhamaddhā*', etc.

In the Vedas the dual number is retained, but in all the main idea was to express only those objects which always went in pairs and here too it is often further amplified by the use of words like '*dvau*', '*ubhau*', etc, e.g. '*na hi tvā rodasī ubhe*' (RV. 1.10.8), '*aśvinā*' (RV. 1.22. 2), '*mitrāvaruṇā*' (RV.1.2.9). In Amg., however, as in other Prakrits, we find only two numbers, viz., singular and plural, but the forms like '*devā*', '*munī*', '*sāhū*', supposed to be plural, seem to be the remnants of the Vedic duals.

In the Vedic speech, medial *na*, i.e. dental nasal, following the erebral 'ṛ' or 'ṣ', is changed to retroflex nasal, *ṇa*, al-

though it may be intercepted by vowels, *ya, ra, la, va, ha,* consonants of guttural or labial class. In Amg. this limitation has gone, and the medial single *na* is generally changed to *ṇa*, though, as Hemacandra remarks, even medial *na* is at times not changed to *ṇa*, as in 'āranāla'. Thus, generally we find usages like *āyapaṇṇa, ārāhaṇā, uṇṇamiya, uṇhavāya,* etc.

In the recitation of the *mantras* of Yajurveda of the Śukla Śākhās, the retroflex sibilant ṣa, is traditionally uttered as guttural aspirate *kha.* In Amg. in the case of all conjunct consonants having in parallel Sanskrit ṣa, invariably changes into *kha.* Thus, we have usages like *khaṇa* (for *kṣaṇa*), *khattiya* (for *kṣatriya*), *khāmettā* (for *kṣamayitvā*), *khara* (for *kṣara*), *khettaṇṇa* (for *kṣetrajña*), etc.

Similarly, in the Śukla Yajurveda recitation, the initial semi-vowel *ya* is pronounced as *ja,* as for instance in '*jad bhūtaṁ jacca bhāvyam*' (for '*yad bhūtaṁ yac ca bhāvyam*' (YV. 31.2). In Amg. the change is universal in all corresponding cases, e.g. *janta* (for *yantra*), *jakkha* (for *yakṣa*), *jamaka* (for *yamaka*), *jasodhara* (for *yaśodhara*), *jahakkama* (for *yathakrama*), *jahāṇupuvvī* (for *yathānupūrvī*), jārisa (for *yādṛśa*), joittā (for *yojayitva*), *jeṇāmeva* (for *yenaiva*), *joyaṇa* (for *yojana*), etc.

In the Vedas, an attributive adjective agrees with its substantive in gender, number and case, and the exceptions are few, chiefly due to the exigencies of metre. Thus, we have '*Agnim īḷe purohitaṁ yajñasya devam ṛtvijaṁ \ Hotāraṁ ratnadhātamam* \\' (RV. 1.1.1). Similar is the usage in the case of Amg., wherein the adjective qualifying a noun generally agree with it in number, gender and case, e.g. '*pañcahattāriehi vāsehiṁ sesehiṁ*'. But sometimes in prose as well as in verse the usual rules of concord of number, gender and case are not observed, as for instance, '*eeṇaṁ bhante, kāraṇeṇaṁ ahaṁ pāesiṁ rāyaṁ havvamānessāmo*'. As in the Vedic dialect, so in Amg., too, sometimes case-endings are dropped. In the Vedic language, this

happens in the case of vocative only, but in the Amg. it occurs in the case of instrumental, accusative, etc.,e.g. '*anteuraparíyāla saddhiṁ saṁparivuḍe*' where in '-pariyāleṇaṁ,' was to be expected.

The frequent use of the expletive particle 'ṇaṁ' which is peculiar to Amg., seems to have been inherited from the Vedic usage of '*nu*'and '*nūnam*', as in, '*mahāṁ indraḥ paraś ca nu mahitvam astu vajriṇe* (RV. 1.8.5), 'indrasya nu viryāṇi pravocam' (RV. 1.32.1), *adya nūnaṁ ca yastave* (RV. 1.13.6.), '*gantā nūnam no vasā'* (RV. 1.39.7)

In the Vedic, the terminations of the Instrumental singular *(-ena)* and plural (*-bhis*), Genetive singular (*-sya*) and plural (*-ānām*), Locative singular (*-i*) and plural (*-su*),and Vocative plural (*-as*) combine with the base of the masculine nouns ending in '-a', and form the declensions like '*devena*' '*devebhiḥ*', '*devasya*', '*devānām*', '*deve*', '*deveṣu*' and 'devāḥ' respectively. Similarly, in Amg. the declensions of such nouns are '*deveṇa*' '*devehiṁ*', '*devassa*', '*devāṇam*', '*deve*', and 'devesu' respectively, along with other alternative formations.

There are numerous correspondences and parallels between the Vedic and the Ardhamāgadhī usages in cardinal numerals, conditionals, causals, passive voice, verbal derivatives such as both active and passive present participle, past active and passive participle, potentioal passive participle, gerund, infinitive, etc., thus showing definitely that all these have been inherited by Amg. from Vedic Sanskrit by necessary phonetic changes. In the light of this situation, the declaration of Prakrit grammarians like Hemacandra and others that Sanskrit is the source *(prakṛtiḥ)* seems to be quite justified and it is on account of this that the Middle Indo-Aryan dialects like Māgadhī, Ardhamāgadhī, Śauraseni, Māhārāṣṭrī, Paiśācī and others have been evolved in course of time from Sanskrit* as used in Vedic times.

* In this context the word *Snaskrit* is a misnomer because the term Sanskrit does not apply at all technically to the dialect / dialects (having variant features as per the specific *sūtra bahulam*) of the *Vedas*. Sanskrit as a classical or a standard language (of Pāṇini) has itself its source in the archaic dialects of the *Vedas,* and it is very well known by usage as **chandas** and in it there are generally a variety of usages for a single form whether it is nominal or verbal or of a participle, i.e. there is no uniformity of suffixes and terminations which we find in Sanskrit. Further we come across a Vumber of vedic usages that are not adopted by Sanskrit but are found to be current (with phonological changes) in the ancient Prakrit languages like Pāli, Ardhamāgadhī, Aśokan dialects, etc. This state of disparity between the Sanskrit and the Vedic *chāndas* and on the other hand the affinity of archaic Prakrit usages with that of the *chāndas* in several cases should be kept in mind before using the term **Sanskrit**. –Editor.

OLD LINGUISTIC ELEMENTS IN THE ARDHAMĀGADHĪ LANGUAGE IN COMPARISION TO ŚAURASENĪ

–Dr. Dinanath Sharma

Like the three Saṅgītis of Pāli Tripiṭaka history has witnessed three redactions of Jain canons as well. It is well established that Lord Mahāvīra preached in the Magadha region where Māgadhī language was spoken by common people. After his enlightenment Lord Mahāvīra moved from one place to another in order to propagate his teachings among common people in their own language, i.e. in Māgadhī. He did not restrict his activities within the Magadha country only but moved in the neighbouring regions, which made his language a mixture of Māgadhī and other dialects, therefore it is known as Ardhamāgadhī. Likewise Lord Buddha also delivered his sermons to common people in their popular language, i.e. Māgadhī, but it was later on known as Pāli[1]. From the linguistic point of view Pāli is the oldest language among the Middle Indo-Aryan languages. Ardhamāgadhī is also supposed to be equally old, but due to the three redactions at different places and at different times, which intervened a long span of time (almost 1000 years), Ardhamāgadhī underwent many phonetical and morphological changes. But still senior canonical works preserve a good number of forms which are archaic in comparision to Śaurasenī and Mahārāṣṭrī.

The subject-matter of this paper is to make a distinctive study of archaic forms found in the Ardhamāgadhī in comparision to other MIA. dialects. As regards the process of phonological changes in a language, it is observed that it proceeds towards easiness. In this process first of all intervocalic consonants are softened, thereafter at the later stage they are even dropped. In the Ardhamāgadhī medial voiceless -क्-त्- and थ् are sometimes

found to be voiced as -ग्-द्- and -ध्- respectively;[2] e.g. सरपादगं (शरपातकम्), Sūtrakṛ. I.4.2.13 MJV.Ed.; अध (अथ), Sūtrakṛ. I. 4.1.23 V.1. Cūrṇi This feature is equally found in Śaurasenī, whereas in Pāli these consonants are retained. They are neither softened nor dropped.

The main feature in the MIA. is the assimilation of conjunct consonants of different classes. But the insertion of a vowel between some conjuncts instead of assimilation is regarded as an older feature of Amg. and Pāli and the language of Aśokan Inscriptions. Pischel[3] notes this character and quotes a large number of examples from Amg. Some of them from Ācārāṅga as given by Pischel are as follows - अगणि (अग्नि) Ācā. 1.34, 37, 39, 211, 212; उसिण (उष्ण) Ācā 1.10; तुसिणिअ (तूष्णीक) Ācā 1.288; पणियसाला (पण्यशाला) Ācā. 1.278; वेयावडिय (वैयावृत्य) Ācā. 1.199, 207, 219.

अत्ता, आता, आदा, आया and अप्पा are the various Prakrit forms of the Skt. आत्मन्, of which only अत्ता is there in older Pāli and Aśokan inscriptions. It means that it is an archaic form. Western Aśokan inscriptions have अत्पा for आत्मन् which is a predecessor of later अप्पा. From अत्ता developed आता and आदा, from them developed आया. The Ācārāṅga[4], in its first chapter, has अत्ता and आता in large number, which reveals that it represents the older strata of the language. In contrast to it in Śaursenī अत्ता and आता are not traced. But in it we come across आदा (Pravacansāra 1.8) and अप्पा (ibid. 1.11), which are evidently later forms.

Dental nasal न् (intial न्-, intervocalic -न्- and conjunct -न्न्) are retained in Pāli and Aśokan inscriptions, not only that but even cerebral nasal ण् is changed to न् in eastern Aśokan dialects, e.g. अभिलामानि (अभिरामाणि-Kālasī No. 8), etc. and पियदसिना etc. in Aśokan inscriptions. In the same way Amg. also has retained dental nasal whether initial, intervocalic or conjunct, -

नत्थि, अनु, अन्नतरी तो (Ācā 1.1.1 KRC. Edition). Śaurasenī and other subsequent Prakrit dialects do not retain dental nasal न् but it is cerebralised to ण् at every position. Cerebralisation of dental न to ण् is a later phase in the evolution of MIA. dialects.[5]

In almost all the MIA. languages अम्हे stands for Sk. वयम् (1st per. Nom. pl. of the pronoun अस्मद्) but the Amg. language has preserved वयं (Skt. वयम्) at certain places, viz. in the Ācārańga, Sūtrakṛtāńga, Uttarādhyayana, etc. वयं पुण एवमाचिक्खामो (Ācā. 1.4.2.138; MJV.), जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा (Uttarādhyayana, 13.18; MJV.)[6]

Besides -हिं and -हि suffixes for instrumental plural, generally found in all the MIA. dialects, Ardhamāgadhī has preserved -भि suffix also, e.g. थीभि (स्त्रीभिः Ācā 1.2.4.84); पसुभि (पशुभिः Uttarā. 4.49); संजमेभि (संयमैः Isibhā p.128), कडेभि (कटैः Sūtrakṛ 1.2.1.4), etc. In classical Sanskrit -भिस् instrumental plural becomes -ऐस् (अतो भिस ऐस् Aṣṭādhyāyī 7.1.9) after -अ stem, but in the Vedic language even after -अ stem -भिस् is retained following -एत् (बहुवचने झल्येत् Aṣṭādhyāyī 7.3.103), e.g. देवेभिः, प्रियेभिः, etc. The same suffix has come down to the Amg. language.

For the dative singular -आय suffix is employed for -अ stem (ङेर्यः Aṣṭādhyāyī 7.1.13) and the same suffix is found employed in several cases in Amg., e.g. वाहिक्खयाय (व्याधिक्षयाय), मोहक्खयाय (मोहक्षयाय) Isibhāsiyāiṁ Ch. 38.17. झाणाय (ध्यानाय), कम्मादाणाय (कर्मादानाय) Isibhā. Ch. 38.15,16, आतहिताय (आत्महिताय) Sūtrakṛ. 1.4.1.16. But in the Śaurasenī, like other dialects the genitive suffix is generally used for dative.

The -म्मि is generally the locative singular suffix in all the dialects except in Pāli which has -स्मि and -म्हि. In the Amg. canons, sometimes we find -म्हि and म्हि suffixes preserved; e.g. इमम्हि (अस्मिन् Vyavahārasūtra 7.22), कम्हि (कस्मिन् Uttarā. 15.2)

The -अंसि suffix is employed for the locative singular in Amg; which has evolved from - स्मिन् (Skt.), but it is not found in the Śauraseni. The locative singular form of रात्रि is रात्रौ in Sanskrit and रत्तीए in Prākrit but राते (Ācā. 189,190) and राओ (Ācā. 63,73 MJV.Edn.) are traced in Amg. which show their affinity with the Skt. form रात्रौ and therfore this form with phonological change is archaic.

Amg. has preserved -य and -या suffixes of Pāli for feminine instrumental singular, e.g. अणुपुव्वीय (अनुपूर्व्या, Ācā. 1.8.230 v.l. Ms.khaṁ. & Cū. MJV.Edn.) मुच्छाय (मूर्च्छया, Isibhā. ch. 3.2), अरणीय (अरण्या Isibhā. ch.22 p. 43.9); पुढवीय (पृथिव्या, Isibhā. ch. 22 p. 43.8).

Generally past passive participle is used for past tense and not verbal form of past tense in Śauraseni and other later dialects. Amg. on the contrary preserves on several occasions the past tense with the -सि, -सी, -इ, -ई, -त्था, -इत्था, -उ, -ऊ, -स्सं, -अंसु and -इंसु terminations. Pāli and the language of Aśokan inscriptions are also a testimony to this feature. Examples can be quoted as follows-अकासी (अकार्षीत् 1.9.4.314) कुव्वित्था (अकरोत 1.9.321) आहु (आहुः 1.9.140 Ācā. MJV.Edn.), etc.

For absolutive sometimes we come across in the Amg. some forms which are direct outcome of Sanskrit forms with phonetic changes, e.g. अभिकंख (अभिकांक्ष्य), निक्खम्म (निष्क्रम्य) पक्खिप्प (प्रक्षिप्य) etc. Śauraseni has -दूण and -इय terminations in general and sometimes old terminations like -त्ता and च्चा of Amg.[7]

The -अंत and -माण suffixes of the present participle are appended in almost all the MIA. dialects, but in the Amg. sometimes there are traced older forms with -अं (अकुव्वं=अकुर्वन् Ācā. 1.9.1.271), जाणं (जानन् Isibhā. Ch. 41.8) as also the same in Pāli.

For infinitives -उं (Mahārāṣṭrī) and -दुं (Śauraseni) suffixes are used whereas in the Amg. there are -त्तए and -इत्तए

which represent Vedic -त्वै with phonetical change, e.g. तरित्तए (तरितुम्), गमित्तए (गन्तुम्) Ācā. 1.2.4.79 MJV.Edn.). In Śauraseni, there is total absence of this suffix.

It is quite obvious that Lord Mahāvīra moved in and around the Magadha country. His language of sermons, therefore, could not be mainly other than Māgadhī. Śaurasenī which was the language of Śūrasena (Mathurā) could not have been the medium of his teachings. So far as the antiquity of the languages is concerned Śaurasenī does not reveal the trait either in phonology or morphology as we have seen above, whereas the Amg. has many usages similar to those of the Vedas and Pāli.

Foot-Notes

1. Pāli Mahāvyākaraṇa, Introduction, page, 7
2. Coparative Grammar of the Prakṛit Languages, para 202
3. Ibid, para 131,132
4. Ācārāṅga, page 86. ed. K.R.Chandra.
5. प्राचीन अर्धमागधी की खोजमें पृ. २५
6. Pischel, para 250
7. Ibid, 589.

Reference Books

1. Comparative Grammar of the Prakrit Languages, R. Pischel Tr. Subhadra Jha, Motilal Banarasidas, Delhi 1981
२. अशोक के अभिलेख, राजबली पाण्डेय, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि.सं. २०२२
३. आचाराङ्ग, संपा. के. आर. चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९७,
४. पालिमहाव्याकरण, भिक्षु जगदीश काश्यप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९३, द्वि. संस्करण
५. प्रवचनसार, संपा. ए. एन. उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६४, द्वि. संस्करण
६. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, डॉ. के. आर चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद, १९९१-९२
७. विसुद्धिमग्ग-दीपिका, संपा. धर्मानन्द कोसाम्बी, महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, १९७३, वाराणसी
८. वैदिक व्याकरण, आर्थर मैक्डोनल, अनु. सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९४
९. वैयाकरणसिद्धान्तककौमुदी, गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९९१.

खण्ड - २

SECTION - 2

हिन्दी-गुजराती विभाग

HINDI-GUJARATI SECTION

जैन आगमों की मूल भाषा: अर्धमागधी या शौरसेनी ?

प्रो. सागरमल जैन

वर्तमान में 'प्राकृत विद्या' नामक शोध-पत्रिका के माध्यम से जैन विद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन कर रहा है कि "जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिसे कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधी बना दी गई" । इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृतें यथा-मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अत: ये सभी शौरसेनी प्राकृत से परिवर्ती भी हैं । इसी क्रम में दिगम्बर-परम्परा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्द रूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है । इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर मान्य आगमों को दिगम्बर-परम्परा में मान्य आगम तुल्य ग्रन्थों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी में निबद्ध आगमतुल्य ग्रन्थों को प्राचीन सिद्ध किया जाये । इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के बीच कटुता की खाई गहरी होती जा रही है और इन सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है । प्रस्तुत निबन्ध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा ।

क्या आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था ?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया ? कुछ जैन विद्या के विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया । अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर, दिगम्बर किन्हीं भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो० टाँटिया के व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत करते हैं । डॉ. सुदीप जैन ने **'प्राकृतविद्या'** जनवरी-मार्च, ९६ के

सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है :-

"हाल ही में श्री लालबहादुरशास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्दस्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो. नथमलजी टाँटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि "श्रमण-साहित्य का प्राचीन-रूप, चाहें वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हो, श्वेताम्बरों के 'आचारांगसूत्र, दशवैकालिक-सूत्र' आदि हो अथवा दिगम्बरों के 'षट्खण्डागमसूत्र, समयसार' आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक बृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्धसाहित्य का मागधी-करण किया और प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध-साहित्य के ग्रंथों को अग्निसात कर दिया। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इन स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी ५०० वर्ष ई. के परवर्ती मानना पड़ेगा।"

"उन्होंने स्पष्ट किया कि आज भी आचारांगसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्द्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूल रूप खो रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित एवं उपलब्ध हैं।"

निस्संदेह प्रो० टाँटिया जैन और बौद्धविद्याओं के वरिष्ठतम विद्वानों में एक हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा। किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है ? क्योंकि एक ओर '**तुलसीप्रज्ञा**' के सम्पादक का कहना है कि टाँटियाजी ने इसका खण्डन किया है। वे तुलसीप्रज्ञा (अप्रैल-जून, ९३, खण्ड २२, अंक ४) में लिखते हैं कि "डॉ. नथमल टाँटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का

खण्डन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचारांग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।"

दूसरी ओर 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक डॉ. सुदीपजी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उनके विचारों को अविकल रूप से यथावत् प्रस्तुत की है। मात्र इतना ही नहीं डॉ. सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि 'तुसलीप्रज्ञा' के खण्डन के बाद भी वे टाँटियाजी से मिले हैं और टाँटियाजी ने उन्हें कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं। टाँटियाजी के इस कथन को उन्होंने 'प्राकृतविद्या' जुलाई-सितम्बर, ९६ के अंक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है :-

"मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।" (पृ. ९)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है, किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और डॉ. टाँटिया का मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी संभव था जब डॉ. टाँटिया स्वयं इस सम्बन्ध में लिखित वक्तव्य दे, किन्तु वे इस संबंध में मौन रहे। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था, किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डॉ. टाँटिया की उलझन समझता हूँ — एक और कुन्दकुन्द भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया था तो दूसरी ओर वे 'जैन विश्वभारती' की सेवा में थे, जब जिस मंच से बोले होंगे भावावेश में उनके अनुकूल कुछ कह दिये होंगे। और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें ? फिर भी मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डॉ. टाँटिया जैसे गम्भीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दे दे। कहीं न कहीं शब्दों की कोई जोड़-तोड़ अवश्य हो रही है। डॉ. सुदीपजी 'प्राकृतविद्या' जुलाई-सितम्बर, ९६ में डॉ. टाँटियाजी के उक्त व्याख्यानों के विचार बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि "हरिभद्र का सारा **योगशतक** धवला से (के आधार पर बना) है।"

इसका तात्पर्य है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को धवला के आधार पर

बनाया है। क्या टाँटियाजी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास-बोध नहीं रहा होगा कि 'योगशतक' के कर्ता हरिभद्रसूरि और 'धवला' के कर्ता में कौन पहले हुआ है? यह ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का 'योगशतक' (आठवीं शती) 'धवला' (१०वीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास भी नहीं होता है, कि टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दे। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया गया है।★

वस्तुतः यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बडे विद्वान् ने क्यों नहीं कहा हो? यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है, तो अभी संयोग से टाँटियाजी से भी वरिष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन बौद्ध विद्याओं के महामनिषी और स्वयं टाँटियाजी के गुरु पद्म विभूषण पं० दलसुखभाई हमारे बीच हैं, फिर तो उनके कथन हो अधिक प्रामाणिक मानकर 'प्राकृत विद्या' के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर यह सब प्रास्ताविक बातें थीं, जिससे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है, कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत संगोष्ठी की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों या वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि जैन आगमों की मूल भाषा क्या थी? और अर्धमागधी तथा शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूल भाषा-अर्धमागधी

(क) यह एक सुनिश्चित सत्य है कि महावीर का जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र ही रहा है, अतः यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा को बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुनः श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य जो भी 'आगम साहित्य' आज उपलब्ध है, उनमें अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिये थे।

★ ज्ञातव्य है कि दि॰ २० फरवरी १९९९ ई. को आदरणीय टाँटियाजी का स्वर्गवास हो गया है। अतः उनके नाम पर प्रसारित भ्रमों से बचना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में 'अर्धमागधी आगम' साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा :-

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।-समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२

२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मं परिकहेइ।-औपपातिक सूत्र

३. गोयमा ! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति।-भगवई, लाडनूं, शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३

४. तए णं समये भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए...सव्व भाषाणु-गामिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेइ। -भगवई, लाडनूँ शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९

५. तए णं समये भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स...अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ। भगवई, लाडनूं, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३

६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं।-आचारांग-चूर्णि, जिनदासगणि, पृ. २५५

मात्र इतना ही नहीं, दिगम्बर-परम्परा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ बोधपाहुड, जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगम्बर आचार्य श्रुतसागरजी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया था। प्रमाण के लिये उस टीका के हिन्दी अनुवाद के अनुसार का यह अंश प्रस्तुत है। **अर्ध मगधदेश भाषात्मक** और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान की ध्वनि खिरती है। शंका-अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है, क्योंकि **भगवान की भाषा ही अर्धमागधी है ?** उत्तर-मगध देव के सान्निध्य में होने से। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'नन्दीश्वर भक्ति' के अर्थ में लिखा है -"एक योजन तक भगवान की वाणी स्वयंमेव सुनाई देती है। उसके आगे संख्यात योजनों तक उस दिव्यध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अतः **अर्धमागधी**

भाषा देवकृत है। (षट्प्राभृतम्★ चतुर्थ बोधपाहुड-टीका पृ. ११९। गाथा ३२)

मात्र यही नहीं, वर्तमान में भी दिगम्बर-परम्परा के महान् संत एवं आचार्य विद्यासागरजी के प्रमुख शिष्य मुनिश्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैन धर्म दर्शन, पृ. ४० पर लिखते हैं कि 'उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य **अर्धमागधी' भाषा** में हुआ।

जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान् का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है ?

(ख) उपरोक्त आगमिक प्रमाणों की चर्चा के अलावा व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं-

१. यदि भ. महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिये तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा। अतः आगमों की मूलभाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है, यह मानना होगा।

२. इसके विपरीत 'शौरसेनी आगम तुल्य' मान्य ग्रन्थों में किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं हैं, **जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी**। उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थंकरों की जो वाणी खिरती है, वह सर्व भाषारूप परिणत होती है। उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जन साधारण को आसानी से समझ में आती थी। यह लोकवाणी थी। उसमें मगध के

★ इस ग्रंथ का मूल संस्कृत इस प्रकार है -
सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थः अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत् ? मगधदेश सन्निधाने तथापरिणतया भाषया संस्कृत भाषया प्रवर्तते। सर्वजनेता विषया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागधप्रीतिंकरदेवातिशयवशान्मागधभाषया भाषन्तेऽन्योन्यं मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वातिशयौ। - षट्प्राभृतादि-संग्रहः श्री मा.दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, वि.सं. १९७७, पृ. ९९, गाथा ३२.

निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षेत्रीय वोलियों के शब्द रूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया है।

३. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के **'जैन आगम'** यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं और उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि भ. महावीर ने बिहार, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आगे विहार किया हो। अत: उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।

४. पुन: आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में और दूसरी वाचना खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अत: कम से कम प्रथम और द्वितिय वाचना के समय तक अर्थात् ई.पू. दूसरी या प्रथम शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैन धर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर लगभग ई.सन् पूर्व दूसरी शती से ई.पू. प्रथम शती में मथुरा बना तो उस पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारम्भ हुआ हो। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शैरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है कि जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा। सम्भवत: फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कंदिल (चतुर्थ शती) की 'माथुरी वाचना' के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया था, यही कारण है कि 'यापनीय परम्परा' में मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ, कल्प आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डॉ. टाँटिया ने यह कहा है कि आचारांग आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से प्रभावित संस्करण भी था, जो मथुरा क्षेत्र में विकसित 'यापनीय परम्परा' को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है क्योंकि 'भगवती आराधना' की टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के जो संदर्भ दिये गये हैं वे सभी शौरसेनी से प्रभावित हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आगमों की

रचना शौरसेनी में हुई थी और वे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये। ज्ञातव्य है कि यह 'माथुरी वाचना' स्कंदिल के समय भ. महावीर निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें जिन आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे ही। यापनियों ने आगमों के इसी शौरसेनी-प्रभावित संस्करण को मान्य किया था, किन्तु दिगम्बरों के लिये तो, वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस 'माथुरी वाचना' के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही 'आगम साहित्य' तो विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, निशीथ, आदि तो ई.पू. चौथी शती से दूसरी शती तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन विद्या के केन्द्र के रूप में विकास ई.पू. प्रथम या दूसरी शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कब और कैसे ?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कंदिलचार्य की इस 'माथुरी वाचना' के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वलभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी, अतः इसी काल में उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव भी आया। क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित 'आगम' आज तक श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं। अतः इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री-प्रभावित और शौरसेनी-प्रभावित संस्करण जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पंचम शती में अस्तित्व में आये, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही थे। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कंदिलचार्य की 'माथुरी वाचना' में और न नागार्जुन की 'वलभी वाचना' में आगमों की भाषा में सोच-समझपूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक 'आगम' कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारण शैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था, कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ उसके 'आगम पाठ' उस क्षेत्र की बोली-शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ

वलभी में एकत्रित हुआ, उसके 'आगम पाठ' इस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुनः यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनाओं में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो 'अर्धमागधी आगम' ही थे, यही कारण है कि 'शौरसेनी आगम' न तो शुद्ध शौरसेनी में है और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में, उन दोनों में अर्धमागधी के शब्द-रूप तो उपलब्ध हो ही रहे हैं। शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद् उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से अनेक आगम ५० प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य आगमों में प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है, उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख 'जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श,' सागर जैन विद्याभारती (भाग १, पृ. २३९-२४३) में की हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उसका निम्न अंश द्रष्टव्य है :-

"जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं हैं, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे :-

१. भारत में, वैदिक परम्परा में वेद वचनों को मंत्र रूप में मानकर उनके स्वर-व्यंजन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया। उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण रहा। यही कारण है कि आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमंत्रो की उच्चारण शैली, लय आदि के प्रति तो अत्यन्त सर्तक रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। अतः जैनाचार्यों के लिये अर्थ या कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया।

शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा । शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये। इसी क्रम में ईसा की चतुर्थ शती में अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी प्रभावित और महाराष्ट्री प्रभावित संस्करण अस्तित्व में आये ।

२. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए उसका दूसरा कारण यह था कि जैन भिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षु गण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती थी, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गयीं ।

३. जैन भिक्षु सामान्यता भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव भी पड़ता ही था, फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और उनमें तत् तत् क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण होता गया । उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है, तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों की ही बोलियों का प्रभाव आ जाता है। फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम के भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है ।

४. सामान्यतया बुद्ध के वचन बुद्ध के निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचना-काल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही है। आज भी लंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरुशिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देशकालगत उच्चारण भेद से उनको लिपिबद्ध करते समय उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। मात्र यही नहीं, लिखित

प्रतिलिपियों के पाठ भी प्रतिलिपिकारों की असावधानी या क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हुए। श्वेताम्बर आगमों की प्रतिलिपियाँ मुख्यत: गुजरात एवं राजस्थान में हुई, अत: उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव आ गया।

५. भारत में कागज का प्रचलन न होने से भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अंहिसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की ५ वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिये दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलत: महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा पर आधारित होने से आगमों के भाषिक स्वरूप में वैविध्य आ गया।

६. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो वैविध्य देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र का होता था, उस पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द-रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूलपाठ में "गच्छति" लिखा हो लेकिन यदि उस क्षेत्र में प्रचलन में "गच्छइ" का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार "गच्छइ" रूप ही लिख देगा।

७. जैन आगम एवं आगम तुल्य ग्रन्थों में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अंपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र की प्रचलित भाषा और व्याकरण के आधार पर उनमें परिवर्तन भी कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब वलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री के प्रभावित हो गया। वह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे। अत: अर्धमागधी और शौरसेनी आगमों में भाषिक स्वरूप का जो वैविध्य

है, वह एक यथार्थता है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा।''

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है ?

डॉ. सुदीप जैन का दावा है कि ''आज भी शौरसेनी आगम साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप शौरसेनी में सर्वत्र ''ण'' का प्रयोग मिलता है, कहीं भी 'न' का प्रयोग नहीं है। जबकि अर्धमागधी में नकार के साथ-साथ णकार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी युग में नकार का प्रयोग आगम भाषा में प्रचलित होता तो दिगम्बर-साहित्य में कहीं तो विकल्प से नकार प्राप्त होता।''—प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर, ९६, पृ. ७

यहाँ डॉ. सुदीप जैन ने दो बाते उठाई हैं, प्रथम शौरसेनी आगम साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी 'ण'कार और 'न'कार की। क्या सुदीप जी, आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्कारणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रमाणिक अध्ययन किया है ? यदि आपने किया होता तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते ? आप केवल णकार का ही उदाहरण क्यों देते हैं-वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य हैं। दूसरे शब्द-रूपों की चर्चा क्यों नहीं करते हैं ? नीचे मैं दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है-यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित हैं, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं :-

१. आत्मा के लिये अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा, आदि शब्द रूपों के प्रयोग उपलब्ध हैं, जबकि शौरसेनी में घोषीकरण के कारण ''आता'' का ''आदा'' रूप बनाता है। समयसार में ''आदा'' के साथ-साथ ''अप्पा'' शब्द-रूप जो कि अर्धमागधी का है अनेक बार प्रयोग में आया है, केवल समयसार में ही नहीं अपितु नियमसार (१२०,१२१,१८३) आदि में भी ''अप्पा'' शब्द का प्रयोग है।

२. श्रुत का शौरसेनी रूप ''सुद'' बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में

अनेक स्थानों पर "सुदकेवली" शब्द के प्रयोग भी हुए हैं, जबकि समयसार (वर्णी ग्रन्थमाला) गाथा ९ एवं १० में स्पष्ट रूप से "सुयकेवली" "सुयणाण" शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है। जबकि ये दोनों महाराष्ट्री शब्द-रूप हैं और परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव 'सुत' शब्द का प्रयोग होता है।

३. शौरसेनी में मध्यवर्ती असंयुक्त "त" का "द" होता है साथ ही उसमें "लोप" की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रिया रूप "हवदि, होदि, कुणदि, गिण्हदि कुत्तदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि आदि बनते हैं, इन क्रिया-रूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में हुआ भी है, किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया-रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है -

'समयसार' वर्णी ग्रन्थमाला (वाराणसी)-

जाणइ (१०), हवई (११, ३१५, ३८४, ३८६,) मुणइ (३२), वुच्चइ (४५), कुव्वइ (८१, २८६, ३१९, ३२१, ३२५, ३४०), परिणमइ (७६, ७९, ८०), (ज्ञातव्य है कि 'समयसार' के इसी संस्करण की गाथा क्रमांक ७७, ७८, ७९ में परिणमदि रूप भी मिलता है) इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप जैसे वेयई (८४), कुणई (७१, ९६, २८९, २९३, ३२२, ३२६,) होइ (९४, १९७, ३०६, ३४९, ३५८), करेई (९४, २३७, २३८, ३२८, ३४८), हवई (१४१, ३२६, ३२९), जाणई (१८५, ३१६, ३१९, ३२०, ३६१), बहइ (१८९), सेवइ (१९७), मरइ (२५७, २९०), (जबकि गाथा २५८ में मरदि है), पावइ (२९१, २९२), घिप्पइ (२९६), उप्पज्जइ (३०८), विणस्सइ (३१२, ३४५), दीसइ (३२३) आदि भी मिलते हैं। ये तो कुछी ही उदाहरण हैं। ऐसे अनेकों महाराष्ट्री प्राकृत के क्रिया-रूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल समयसार अपितु नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दीकृत श्रावकाचार (भारतीय ज्ञानपाठ-संस्करण) की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रंन्थों से भी बदतर हैं, उसकी प्रारम्भ की सौ गाथाओं ४०% क्रिया रूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित यह होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल वैविध्य है, अपितु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीपजी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते तो, इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता ? प्रो.ए.एम. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खडबडी ने तो 'षट्खण्डागम' की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

'न'कार और 'ण'कार में कौन प्राचीन ?

अब हम णकार और नकार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीपजी, आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में नकार और णकार दोनों पाये जाते हैं। किन्तु दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में सर्वत्र णकार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमी के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस णकार प्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग प्राचीन है। ई.पू. तृतीय शती के अभिलेख अशोक एवं ई.पू. द्वितीय शती के अशोक के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई.पू. दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक) इन लगभग ८० जैन शिलालेखों में दन्त्य नकार के स्थान पर एक भी णकार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों यथा "णमो" "अरिहंताणं" और "णमो वड्ढमाणं" का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है :- ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ से प्रस्तुत हैं, जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित है :-

१. हाथीगुफा उड़ीसा का शिलालेख -प्राकृत, जैन सम्राट खारवेल, मौर्यकाल १६५ वां वर्ष, पृ. ४ लेख क्रमांक २-**'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं"**
२. वैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि, उड़ीसा-प्राकृत, मौर्यकाल १६५ वां वर्ष लगभग ई.पू. दूसरी शती पृ. ११, ले.क्र. ३, **'अरहन्तपसादन'**
३. मथुरा, प्राकृत, महाक्षत्रप शोडाशके ८१ वर्ष का पृ. १२ क्रमांक ५ **'नम अहरतो वधमानस'**

४. मथुरा, प्राकृत, काल निर्देश नहीं दिया है, किन्तु जे. एफ. फ्लीट के अनुसार लगभग १३-१४ ई. पूर्व प्रथम शती का होना चाहिए। पृ. १५ क्रमांक ९ -'**नमोअरहतो वर्धमानस्य**'

५. मथुरा, प्राकृत सम्भवतः १३-१४ ई.पू. प्रथमशती पृ. १५ लेख क्रमांक १०, '**मा अरहतपूजा[ये]**'

६. मथुरा, प्राकृत, पृ. १७ क्रमांक १४ '**मा अहग्तानं(अरहंतानं) श्रमण-श्राविका[य]**

७. मथुरा, प्राकृत, पृ. १७ क्रमांक १५ '**नमो अरहंतानं**'

८. मथुरा, प्राकृत, पृ. १८ क्रमांक १६ '**नमो अरहतो महाविरस**'

९. मथुरा, प्राकृत, हुविष्क संवत ३९-हस्तिस्तम्भ पृ. ३४, क्रमांक ४३, '**अर्य्येन रुद्रदासेन**' **अरहंतनं पुजाये** ।

१०. मथुरा, प्राकृत, भग्न, वर्ष ९३ पृ. ४६ क्रमांक ६७, '**नमो अर्हतो महाविरस्य**'

११. मथुरा, प्राकृत, वासुदेव सं. ९८ पृ. ४७, क्रमांक ६०, '**नमो अरहतो महावीरस्य**'

१२. मथुरा, प्राकृत, पृ. ४८ ९(बिना काल निर्देश) क्रमांक ७१, '**नमो अरहंतानं सिहकस**'

१३. मथुरा, प्राकृत, भग्न(बिना काल निर्देश) पृ.४८, क्रमांक ७२ '**नमो अरहंताना**'

१४. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश) पृ. ४८, क्रमांक ७३ '**नमो अरहंतान**'

१५. मथुरा, प्राकृत, भग्न(बिना काल निर्देश) पृ. ४९ क्रमांक ७५ '**अरहंतान वधमानस्य**'

१६. मथुरा, प्राकृत, भग्न, पृ. ५१, क्रमांक ८० '**नमो अरहंताण...**'

शूरसेन प्रवेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी, तीसरी शती तक नकार के स्थान पर णकार एवं मध्यवर्ती असंयुक्त 'त' के स्थान पर 'द' के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगम्बर आगमों

एवं नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की दूसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि 'नकार' प्रधान अर्धमागधी का चलन तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई. पू. तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन हैं, आगमों का शब्द-रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है, न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में हुआ है। दिगम्बर मान्य आगमों की वह शौरसेनी जिसकी प्राचीनता का बढ़-चढ़ कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर परंतु अपनी विषय-वस्तु के आधार पर भी ईसा की चौथी-पांचवी शती के पूर्व की नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है, तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी चौथी शती तक का एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है। अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख बडली का अभिलेख और मथुरा के शताधिक अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रिय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है। अतः उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है। अतः प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन हैं, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी नमो अरहंतानं, नमो वधमानस आदि अर्धमागधी शब्द-रूप मिलते है। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आये 'अरहंतानं" पाठ को जो प्राकृतविद्या में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (प्राकृत विद्या, अक्टूबर-दिसम्बर, ९४, पृ. १०-११) अतः शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आचारंग आदि द्वादशांगी जिन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा आगम कहकर उल्लेखित करती हैं, वे सभी मूलतः अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर-परम्परा में नन्दीसूत्र में उल्लेखित आगम हो, चाहे मूलाचार, भगवती आराधना और उनकी टीकाओं में या तत्त्वार्थ और उसकी दिगम्बर टीकाओं में उल्लेखित आगम हों, अथवा अंगपण्णति एवं धवला के अंग और अंग बाह्य के

रूप में उल्लेखित आगम हों, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था । हाँ इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण (माथुरी वाचना) के समय लगभग चतुर्थ शती में अस्तित्व में अवश्य आये थे, किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा । वस्तुतः ये आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय परम्परा में मान्य थे और जिनके भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ-भेदों को छोडकर श्वे. मान्य आगमों से समरूपता थी । इनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने "जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय" नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में की है । इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं ।

वस्तुतः आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं उनमें मुख्यतः निम्न ग्रन्थ आते हैं :-

अ. यापनीय आगम

१. **कसायपाहुड** लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधराचार्य-रचित
२. **षट्खण्डागम**, ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्ध, पुष्पदंत और भूतबली
३. **भगवतीआराधना**, ईसा की छठी शती, शिवार्य-रचित
४. **मूलाचार**, ईसा की छठी शती, वट्टकेर-रचित

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थः मूलतः यापनीय परम्परा के रहे हैं और इनमें अनेकों गाथाएँ श्वे. मान्य आगमों, विशेषरूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं ।

ब. कुन्दकुन्द, ईसा की छठी शती के लगभग के ग्रन्थः-

५. **समयसार**
६. **नियमसार**
७. **प्रवचनसार**
८. **पच्चास्तिकायसार**
९. **अष्टपाहुड** (इनका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना सन्दिग्ध है, क्योंकि इनकी भाषा में अपभ्रंश के शताधिक प्रयोग मिलते हैं और इसका भाषा-स्वरूप भी कुन्दकुन्द की भाषा से परवर्ती है ।)

स. अन्य ग्रन्थ (ईसा की छठी शती के पश्चात्) :-

१०. **तिलोयपण्णत्ति**–यतिवृषभ

११. **लोकविभाग**

१२. **जंबुदीप पण्णत्ति**

१३. **अंगपण्णत्ति**

१४. **क्षपणसार**

१५. **गोम्मटसार** (दसवीं शती)

इनमें से 'कसायपाहुड' को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवीं शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धान्त एवं सप्तभंगी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पाँचवी शती से पूर्व के ग्रन्थों में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोडकर गुणस्थान की चर्चा पूर्णतः अनुपस्थित है, जबकि षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसकी चर्चा पायी जाती है, अतः ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार उमास्वाति के 'तत्वार्थसूत्र'–मूल और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएँ गुणस्थान की विस्तृत चर्चाएँ प्रस्तुत करती है। उमास्वाति का काल तीसरी-चौथी शती के लगभग है। अतः यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धान्त पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है। अतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पांचमी शती के पूर्व का नहीं हो सकता। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र कसायपाहुड ही ऐसा है जो स्पष्टतः गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है, किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से १२ गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अतः वह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के संक्रमणकाल की रचना है, अतः उसका काल भी चौथी से पांचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार भी किया जाता है कि

यह नारायण कृष्ण और तीर्थंकर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म शूरसेन में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक्-व्यवहार करते थे। डॉ. सुदीपजी के शब्दों में "इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मी शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावृत में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था।" (प्राकृत विद्या-जुलाई-सितम्बर, ९६, पृ. ६)।

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी ले, तो प्रश्न यह उठता है कि अरिष्ठनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्मे थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। यह सभी क्षेत्र तो मागध का ही निकटवर्ती क्षेत्र है, अतः इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी या और कोई दूसरी भाषा। भाई सुदीपजी के अनुसार यदि शौरसेनी, अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अतः शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही साबित होती है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलते-किन्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से पूर्व का कोई भी जैन ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है ? पुनः नाटकों में भी भास के समय से अर्थात् ईसा की दूसरी शती से ही शौरसेनी के प्रयोग (वाक्यांश) उपलब्ध होते हैं।

जब नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है तब मैं विनम्रता-पूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का है ? यदि नहीं तो फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है। मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत का एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें, जो अर्धमागधी आगमों और मागधी प्रधान अशोक, खारवेल आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्ट्री प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं, उसमें हाल की गाथासप्तशती ई.सन् की लगभग प्रारंभिक शतियों में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ

से वह लगभग प्राचीन है।

पुनः मैं डॉ. सुदीपजी के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा—वे प्राकृत विद्या, जुलाई–सितम्बर ९६ में लिखते हैं कि दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी प्राकृत में हैं, जिससे 'मागधी' आदि प्राकृतों का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में मेरा उनसे निवेदन है कि मागधी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः शौरसेनी' (–प्राकृत प्रकाश ११/२) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है और वे स्वयं भी शौरसेनी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' –प्राकृत प्रकाश १२/२, इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृतिः' का 'जन्मदात्री' – ऐसा अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी के ग्रन्थों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई हो तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ का उल्लेख क्यों नहीं है ? श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी संदर्भ दिखा दें जिनमें भगवती–आराधना, मूलाचार, षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि (तेरहवीं शती) ने मात्र 'समयपाहुड' का उल्लेख किया है, इसके विपरीत मूलाचार, भगवती–आराधना और षट्खण्डागम की टीकाओं में एवं तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि सभी दिगम्बर टीकाओं में (श्वेताम्बर अर्धमागधी) आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। भगवतीआराधना की टीका में तो आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र तथा निशीथसूत्र से अनेक अवतरण भी दिये गये हैं। 'मूलाचार' में न केवल अर्धमागधी आगमों का उल्लेख है, अपितु उनकी सैकडों गाथाएँ भी हैं। 'मूलाचार' में आवश्यकनियुक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द–रूपों में यथावत् पायी जाती हैं।★

★ इस संबंध में मैंने जो अध्ययन किया है उसके आधार पर यह भी पूर्णतः संभवित है कि ऐसे श्वेताम्बर और दिगम्बर रचनाओंकी गाथाओं के मूल में एक ही प्राचीन समान आधार रहा होगा और दोनों परंपराओं में उनका भाषिक स्वरूप अपने अपने ढंग से बदल गया होगा। प्रो.डॉ. ए. एन. उपाध्ये का भी यही अभिप्राय है।
– के. आर. चन्द्र

दिगम्बर-परम्परा में जो प्रतिकमणसूत्र उपलब्ध है, उसमें ज्ञातासूत्र के उन्हीं १९ अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्तमान में श्वेताम्बर-परम्परा के ज्ञाताधर्मकथा में उपलब्ध हें। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी-आगम या आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि आर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं तो फिर शौरसेनी और उस भाषा में रचित साहित्य अर्धमागधी आगमों से प्राचीन कैसे हो सकता है ?

आदरणीय टाँटियाजी के माध्यम से यह बात भी उठायी गयी कि मूलतः आगम शौरसेनी जैन में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जैनधर्म का उद्भव मगधदेश में हुआ और वहीं से वह दक्षिणी एवं उत्तरपश्चिमी भारत में फैला। अतः आवश्यकता हुई अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तरण की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी रूपान्तर की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए, न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अतः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना के द्वारा मात्र तथ्यहीन तर्क करना कहाँ तक उचित होगा ?

बुद्ध-वचनों की मूल भाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी-

शौरसेनी को मूलभाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो. नथमलजी टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि "शौरसेनी पालि भाषा की जननी है-यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे जिनको जला दिया गया और फिर पालि में लिखा गया।"-प्राकृत विद्या-जुलाई-सितम्बर, १९९६, पृ. १०।

टाँटियाजी जैसा बौद्धविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोल-कल्पित बात कैसे कह सकता है ? यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभीलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है ? जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्ध-वचन शौरसेनी में थे। यदि ऐसा हो तो आदरणीय टाँटियाजी या भाई सुदीपजी उसे प्रस्तुत करे अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिये शोभनीय नहीं है।

यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्ध-वचन 'मागधी' में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पालि में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किंचित् अन्तर है, उसी प्रकार 'मागधी' और 'पाली' में भी किंचित् अन्तर है, वस्तुतः तो पालि भगवान बुद्ध की मूल भाषा 'मागधी' का एक संस्कारित रूप ही है, यही कारण है कि कुछ विद्वान् पालि को मागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। पालि भाषा संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही एक साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाण सिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे क्योंकि उनकी जन्मस्थली और कार्यस्थली दोनों मगध और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही था। बौद्ध विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही बुद्ध-वचन की मूल भाषा है। इस सम्बन्ध में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है-

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणी च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।

अर्थात् मागधी ही मूलभाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई थी और न केवल ब्रह्मा (देवता) अपितु बालक और बुद्ध (संबुद्ध महापुरुष) भी इसी भाषा में बोलते हैं (See-The preface to the Childer's Pali Dictionary)।

इससे यही फलित होता है कि मूल बुद्ध-वचन मागधी प्राकृत भाषा में थे। पालि उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्ध-वचन लिखे गये। वस्तुतः पालि के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सकें। अतः बुद्ध-वचन मूलतः मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्ध त्रिपिटक की पालि और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो 'सुत्तनिपात' और 'इसिभासियाइं' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पालि ग्रन्थों की एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पालि में ग्रन्थ रचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद

ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है तो वे अर्धमागधी एवं पालि ही है, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का नहीं है - जबकि पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई. पू. तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृतिः शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी या अर्धमागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं वे अपने कथन का आधार वररुचि (लगभग ७वीं शती) के प्राकृत-प्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग १२ वीं शताब्दी) के प्राकृत-व्याकरण के निम्न सूत्रों को बनाते है :-

अ. १. प्रकृतिः शौरसेनी (१०।२)
अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तत्तितव्यम्।

२. प्रकृतिः शौरसेनी, (११।२)
अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदीतव्यम्।

–वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश'

ब. १. शेषं शौरसेनीवत् (८।४।३०२)
मागध्यां यदुक्तं, ततोअन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।

२. शेष शौरसेनीवत् (८।४।३२३)
पैशाच्यां यदुक्तं, ततोअन्यच्छेषं पैशाच्यां शारसेनीवद् भवति।

३. शौरसेनीवत् (८।४।४४६)
अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्य भवति।
अपभ्रंशभाषायां प्रायः शौरसेनीभाषातुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी-भाषायाः ये नियमाः सन्ति तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते।

–हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण'।

अतः इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में 'प्रकृति' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं, तो निश्चित ही इन सूत्रों से यह फलित होता

है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ, किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले तथा मागधी और पैशाची को उससे उद्भूत मानने वाले ये विद्वान् वररुचि के उस सूत्र को भी उद्धृत क्यों नहीं करते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बताई गयी है, यथा-"शौरसेनी-१२।१, टीका-शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्य-लक्षणाभ्यां स्फुटीक्रियते इकि वेदितव्यम् । अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेद समाप्तेः १२।१ प्रकृतिः संस्कृतम्-१२।२; टीका-शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम् ।-प्राकृतप्रकाश (१२।२)" अतः उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई है । इस प्रकार 'प्रकृति' का अर्थ उद्गम स्थल करने पर उसी 'प्राकृत-प्रकाश' के आधार पर यह भी मानना होगा कि मूल भाषा संस्कृत थी और उसी में से शौरसेनी उत्पन्न हुई । क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार है ? भाई सुदीपजी, जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और 'प्रकृतिः शौरसेनी' के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी 'प्रकृतिः संस्कृतम्-प्राकृत-प्रकाश, १२।२' के आधार पर यह मानने को तैयार क्यों नहीं है कि 'प्रकृति' का अर्थ उससे उत्पन्न हुई ऐसा है । वे स्वयं लिखते हैं "आज जितने भी प्राकृत व्याकरणशास्त्र उपलब्ध है, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के मोडल पर निर्मित है । अतएव उनमें 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसे प्रयोग देखकर कतिपयजन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई हो - ऐसा अर्थ कदापि नहीं है — प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर ९६, पृ. १४ । भाई सुदीपजी जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप 'प्रकृति' का अर्थ 'आधार/मॉडल' करे और जब मागधी का प्रश्न आये तब आप 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई ऐसा करे-यह दोहरा माप-दण्ड क्यों ? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और मागधी को अर्वाचीन बताने के लिये । वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं की उनमें मूलभाषा कौन सी है ?"

संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूल भाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है । प्राकृत शब्दों एवं शब्द-रूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है उसे ही संस्कृत

कहा जा सकता है और जिसे संस्कारित न किया गया हो वह संस्कृत कैसे होगी ? वस्तुतः प्राकृत स्वाभाविक या सहज भाषा है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूल भाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्राचार्य के पूर्व नमिसाधु ने रुद्रट् के 'काव्यालङ्कार' की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं -

सकल जगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादि, वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृतं प्राकृतम्, बालमहिलादिसुबोध सकलभाषा निन्धनभूत वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कार-करणात् च समासादित विशेषं सत् संस्कृताथुत्तरभेदोनाम्नोंति। - काव्यालंकार टीका, नमिसाधु २।१२

अर्थात् जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज वचन व्यापार है, उससे निःसृत भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि के लिये भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक्+कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है वह तो मेध से निर्मुक्त जल की तरह सहज है, उसी का देश-प्रदेश के आधार पर किया गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके विभिन्न भेद अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन है और संस्कृत उनका संस्कारित रूप है, जो वस्तुतः संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आई।

यदि हम भाषा-विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित, सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा है। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि मानव जाति अपने आदिकाल में व्याकरणशास्त्र के नियमोंसे संस्कारित संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से वह अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएँ निर्मित हुई। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात्

संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ, किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा ।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ अस्तित्व में आईं अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है । वस्तुतः इस विवाद के मूल में साहित्यिक-भाषा और लोक भाषा अर्थात् बोली के अन्तर को नहीं समझ पाना है । वस्तुतः प्राकृतें अपने मूलस्वरूप में भाषाएँ न हो कर बोलियाँ रही हैं यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं, अपितु बोली-समूह का नाम है । जिस प्रकार प्रारम्भ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ, उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप में संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ । अतः यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृतें मूल एवं प्राचीन हैं और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक सर्व साधारण (common) भाषा के रूप में हुआ । प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत भाषा है । बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है । भाषा से बोली का विकास नहीं होता है । विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित किया गया तो उनसे विभिन्न सामान्यतः प्राकृतों साहित्यिक (भाषाओं का) का जन्म हुआ । जैसे मागधी बोली से मागधी प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ । प्राकृत के मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भेद तत् तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी प्राकृत विशेष से । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं है । साथ ही साथ उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिये अलग-अलग मोडल अपनाये गये हैं । वररुचि के लिये शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, जबकि हेमचन्द्र के लिये शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अतः 'प्रकृति' का कर्थ आदर्श या मॉडल है । अन्यथा हेमचन्द्र के शौरसेनी के सम्बन्ध में 'शेषं प्राकृतवत्' (८.४.२८६) का अर्थ होगा शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो

शौरसेनी के पक्षधरों को कदापि मान्य नहीं होगा ।

क्या अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे ?

प्राकृत विद्या, जनवरी-मार्च, ९६ के सम्पादकीय में डॉ. सुदीपजी जैन ने प्रो. टाँटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि "श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमशः अर्धमागधी के रूप में बदल गया ।" इस सन्दर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत में था तो फिर वर्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी की मुख्य विशेषता मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रभाव नहीं दिखाई देता । इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि दिगम्बर-परम्परा में मान्य शौरसेनी आगम साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव हैं और इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं । इस सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो. ए. एन. उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'प्रवचनसार' की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं । इसमें स्वर-परिवर्तन, मध्यवर्ती व्यंजनों के परिवर्तन 'य्' श्रुति, इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं । दूसरे वरिष्ठ दिगम्बर-परम्परा के विद्वान् प्रो. खडबडी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है । इस प्रकार यहाँ एक ओर दिगम्बर विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का प्रभाव है वहाँ पर यह कैसे माना जा सकता है कि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं । पुनः अर्धमागधी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों में जो भ्राँति प्रचलित रही है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है । सम्भवतः ये विद्वान् अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाये हैं तथा सामान्यतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे हैं । यही कारण है कि डॉ. उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य्' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं, जबकि वह मूलतः महाराष्ट्रीप्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का । अर्धमागधी तो 'त्' श्रुति

प्रधान है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम से परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की 'य्' श्रुति का प्रभाव आया है, किन्तु यह मानना पूर्णतः मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के समय क्रमशः शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों से प्रभावित हुए हैं।

टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करें कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए हैं-यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टाँटियाजी का यह कथन कि 'पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे और फिर पालि और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए' यह यदि सत्य है तो उन्हें या सुदीपजी को इसके प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए।

वस्तुतः जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का स्वरूप दिया जाता है, तो एक-रूपता के लिये नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और यही नियम भाषा का व्याकरण के द्वारा बनाये जाते हैं। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिये भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यतः संस्कृत से गृहीत किये गये। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बताई जाती है तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस भाषा के शब्दरूप माने गये हैं ? उदाहरण के तौर पर जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श, अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्द-रूप हैं।

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है, जब साहित्य भाषा बन जाती है तब उसके लिये व्याकरण के नियम बनाये जाते हैं और ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्द-रूपों के आधार पर उस भाषा के शब्द-रूपों का समझाते हैं। वे ही उसकी प्रकृति कहलाते हैं। यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की 'प्रकृति' संस्कृत मानने

का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं वे संस्कृत शब्द-रूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ पर भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिये नहीं बनाया गया, अपितु, उनके लिये बनाया गया जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो तो तदर्थ उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि प्राकृत का कौन सा शब्दरूप संस्कृत के किसी शब्द से कैसे निष्पन्न हुआ है।

इसलिये जो भी प्राकृत व्याकरण निर्मित किये गये वे अपरिहार्य रूप से संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्द या शब्द-रूपों की व्याख्या करते हैं और संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब मागधी, पैशाची या अपभ्रंश की 'प्रकृति' शौरसेनी को कहा जाता है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों को आधार मानकर समझाया गया है। प्राकृतप्रकाश की टीका में वररुचि ने स्पष्टतः लिखा है—**शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्** (१२।२) अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द है उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं-तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं जो किसी देश विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त रहे हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिये व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं जो संस्कृत शब्दों से निर्मित है। जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम कहलाते हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं-प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूलशब्द से जो शब्दरूप बना है वह तद्भव है। प्राकृत व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसे बना है, इसकी व्याख्या करता है। अतः यहाँ संस्कृत को 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य मात्र इतना हि है कि तद्भव शब्दों के सन्दर्भ में संस्कृत शब्द को आदर्श मानकर या मॉडल मानकर यह व्याकरण लिखा है। अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल या आधार है। संस्कृत शब्द-

रूप को मॉडल/आदर्श मानना इसलिये आवश्यक था कि संस्कृत के जानकार विद्वानों की दृष्टि में रखकर या उनके लिये ही प्राकृत व्याकरण लिखे गये थे। जब डॉ. सुदीपजी शौरसेनी के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ मॉडल या आदर्श करते हैं तो उन्हें मागधी, पैशाची आदि के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः शोरसेनी' का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी का मॉडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा है- इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्राचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन कौन ? अर्धमागधी या शौरसेनी

इस सन्दर्भ में टॉटियाजी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि "यदि वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से १५०० वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही ५०० ई. से परबर्ती मानना पड़ेगा।" ज्ञातव्य है कि यहाँ महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अन्तर को न समझते हुए एक भ्रान्ति को खड़ा किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त्' श्रुति प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं, उससे निःसंदेह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'त' रहता था और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है। यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री (जिसे दिगम्बर विद्वान भ्रॉंति से अर्धमागधी कह रहे हैं) में बदले गये तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द'कार प्रधान पाठ क्यों उपलब्ध नहीं रहे हैं जो शौरसेनी की विशेषता है। इस प्रसंग में डॉ. टॉटियाजी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी 'आचारांग सूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टॉटियाजी से और भाई सुदीपजी से साग्रह निवेदन करूँगा कि वे आचारांग, ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग आदि की किन्हीं भी

प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' पाठ दिखला दें। प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिले रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के हैं। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान रूप में मिलते हैं।

वस्तुतः इन प्राचीन प्रतियों में न तो मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' देखा जाता है और "न्" के स्थान पर "ण्" की प्रवृति देखी जाती है, जिसे व्याकरण में शौरसेनी की विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है, न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर अपितु शौरसेनी के आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य्' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है। जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पन्द्रह सौ वर्षों से पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व ही नहीं था ?

डॉ. सुदीपजी द्वारा टाँटियाजी के नाम से उद्धृत यह कथन कि '१५०० वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था' पूर्णतः भ्रान्त है। आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित जैसे आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई. पू. तीसरी-चौथी शताब्दी या उससे भी पूर्वकाल का माना है। क्या उस समय ये आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे ? ज्ञातव्य है कि मध्यवर्ती त् के स्थान पर 'द्' और 'ण्'कार की प्रवृति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था अन्यथा अशोक और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी के वैशिष्ट्य वाले शब्द-रूप उपलब्ध होना चाहिए थे। क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है जो ई. पू. में लिखा गया हो ? सत्य तो यह है कि भास (ईसा की दूसरी शती) के नाटकों के अतिरिक्त ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। इससे प्रतिकूल मागधी और अर्धमागधी के अभिलेख ई.पू. तीसरी शताब्दी से उपलब्ध हो रहे हैं। पुनः यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहें हैं उसे महाराष्ट्री भी मान लें तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्राथमिक शताब्दियों के उपलब्ध होते हैं। सातवाहन हाल की गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत

का प्राचीन ग्रन्थ है, हो हेसा अधिकार माना जाता है। ईसा की प्रथम से तीसरी शती के मध्य तक रचित पुनः यह भी एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गई हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ रचे गये थे। कालिदास के नाटकों जिनमें भी शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, वे भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही माने जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से अपितु परवर्ती 'य्' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की पांचवी-छठी शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते है।★ षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग ५ वीं शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि अर्धमागधी आगमों में ये अवधारणाएँ अनुपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। अन्ततोगत्वा यही होता है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगमं नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और शौरसेनी आगम ईसा. की ५ वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीपजी पहले मागधी और पालि तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को एवं इनके प्रत्येक के लक्षणों को तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम को और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाणसहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलाये, व्यर्थ की आधारहीन भ्रान्तियाँ खड़ी करके समाज में कटुता उत्पन्न न करें।

★ देखिए, डॉ. हीरालाल (स्वयं एक दिगम्बर विद्वान्) जैन की 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान', भोपाल, १९६२, पृ. ८३

पुरातत्त्व और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में शौरसेनी भाषा की प्राचीनता

—प्रो. मधुसूदन ढांकी

निर्ग्रन्थ आगम/आगमदेशीय ग्रन्थो में प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में कुछ समय से एक विवाद का प्रारंभ हो चुका है। अब तक ऐसा माना जाता था कि तीर्थंकरों की भाषा अर्धमागधी रहती थी। लेकिन अब एक पक्ष द्वारा एक अश्रुतपूर्व प्रमेय की स्थापना की गई है। 'जिन अरिष्टनेमि की प्रवचन-भाषा शौरसेनी थी और अर्धमागधी भाषा की जननी शौरसेनी ही रही थी।'

कारण ?

जिन अरिष्टनेमि अर्हत् वर्धमान से प्रायः ८५,००० वर्ष पूर्व हो गये थे, वे मथुरा से सम्बद्ध थे और मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी तथा वहाँ की भाषा स्वाभाविक ही शौरसेनी प्राकृत थी। अर्धमागधी, जिसमें जिन वर्धमान ने उपदेश दिया था, वह बहुत बाद की प्राकृत है और कुछ भाषाकीय लक्षणों से वह शौरसेनी से ही निष्पन्न हुई है।

यह तो जिनशासन के लिए बहुत बड़े गौरव की बात है। शौरसेनी यदि आज से प्रायः ८५,००० वर्ष पूर्व की भाषा है, तब तो वह अर्धमागधी तो क्या, जगत् की ज्ञात-अज्ञात सर्व भाषाओं की उसे जननी माना जाय ऐसा घोषित हो जाय तो आश्चर्य नहीं !

फिर भी कुछ मुद्दे ऐसे हैं जिन पर यहाँ गौर करना ज़रूरी है।

(१) यद्यपि तीर्थंकर अरिष्टनेमि के काल के संबंध में निर्ग्रन्थों के सभी फिरकों में प्रायः सर्वसंमति है कि वे वसुदेव कृष्ण के चचेरे भाई होने के नाते, उनके समकालीन होने के कारण, उनकी विद्यमानता का समय ब्राह्मणीय परंपरा के अनुसार आज से ५,००० वर्ष पूर्व, यानी कृष्ण एवं महाभारत युद्ध के काल के समीप और आधुनिक अन्वेषणों से प्रायः २,९०० वर्ष पूर्व करीब होना निश्चित होता है।

(२) आज से ८५,००० साल पूर्व तो भारत में और समस्त पृथ्वी पर जहाँ जहाँ आदि मानव की बस्ती थी, वहाँ पाषाणयुग प्रवर्तमान रहा। संस्कृति का उदय शनैः शनैः ईसा पूर्व १०,००० वर्षों से होता रहा है।

(३) भारत में आर्यों के प्रवेश का समय पाश्चात्य विद्वान् और उनका

अनुसरण करनेवाले भारतीय विद्वान् ईसा पूर्व १५०० साल करीब मानते हैं, और अभी-अभी कुछ राष्ट्रवादी पुरातत्त्वविद् सिंधुघाटी संस्कृति को ही आर्य संस्कृति मनवाके उसका काल भी पीछे ले जाकर आर्य संस्कृति को पाँच से सात हजार साल पूर्व की मानते हैं (कुछ लोग तो संसार में विभिन्न संस्कृतियों का उद्भव भारत की इस पुरानी आर्य संस्कृति से ही होना मानते हैं) । जो कुछ भी हो, कहाँ पच्चासी हजार और कहाँ यह पाँच-सात हजार ! 'भोज राजा के सामने गांगो तेली' की कहावत चरितार्थ करता है क्या ?

(४) शूरसेन प्रदेश में (मथुरा में), आज तक जितने उत्खनन हुए हैं उनमें कहीं भी ईसा पूर्व छठी शताब्दी या बहुत खींच कर सातवीं शती पूर्व के कोई स्तर का अस्तित्व ही नहीं मिला है (ठीक यही हालत उस प्रदेश के शौरिपुर (कृष्णपुर) की भी मानी जा सकती है) ।

(५) मथुरा से जितने ब्राह्मणीय, बौद्ध और निर्ग्रन्थ उत्कीर्ण लेख मिले हैं उनमें जो सबसे पुराने (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईस्वी प्रथम शताब्दी के) हैं वे अर्धमागधी के सदृश्य हैं और कुषाणकालीन अभिलेखों की भाषा संस्कृतमिश्रित प्राकृत है । यहाँ तो शौरसेनी भाषा का ही होना अपेक्षित था लेकिन ऐसा तो नज़र नहीं आता ।

(६) शौरसेनी भाषा ८५,००० वर्ष पुरानी थी और इसका सिलसिला ईस्वी सन् के बाद के दिगंबरमान्य आगमदेशीय ग्रंथों तक चला था ऐसा कोई प्रमाण पेश नहीं किया गया है । जनभाषा में कालक्रमसे परिवर्तन होता ही रहता है । शौरसेनी ने अपनी असलियत ८५,००० वर्ष तक सुरक्षित रखी यह घटना संसार की सर्व भाषाओं के इतिहास में बेजोड़ ही मानी जानी चाहिए ! अलबत्ता भाषाविज्ञान व भाषा-इतिहास की दृष्टि से तो उन विषयों के विद्वान् ही विचार करके सविशेष कह सकते हैं ।

(७) यदि अरिष्टनेमि जिन का उपदेश शौरसेनी में रहा ऐसा माना भी जाय तो क्या अनगिनत अरबों साल पूर्व माने जानेवाले तीर्थंकर ऋषभ जिन का जन्म अयोध्या में हुआ था, तब क्या उनकी भाषा पुरानी अवधि थी ? और बनारस में जिनका जन्म हुआ था वह अर्हत् पार्श्व का उपदेश क्या पुरानी भोजपुरी में था ?

आगम सूत्रों की वर्तमान भाषा

– समणी चिन्मयप्रज्ञा

आगम सूत्रों की मूलभाषा अर्धमागधी रही है । भ. महावीर ने अपनी धर्मदेशना इसी भाषा में दी । इस भाषा का अपना वैशिट्य है । विविध भाषा-भाषी श्रोतृगण अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ लेते हैं । जैन वाङ्मय में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं । समवायांग सूत्र के ३४ वें समवाय में तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों का वर्णन है, वहां उनके भाषातिशय के सम्बन्ध में कहा गया है—'तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं । उनके द्वारा भाष्यमाण अर्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप आदि जीवों के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है ।'[१] औपपातिक सूत्र[२] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने जिस प्रकार काव्यानुशासन के मंगलाचरण में जैनी वाक्, जिसकी उन्होंने स्वयं अर्धमागधी भाषा के रूप में व्याख्या की है, की 'सर्वभाषापरिणताम्' पद से प्रशस्तता प्रकट की है, उसी प्रकार अलंकार तिलक के रचयिता वाग्भट्ट ने सर्वज्ञाश्रित अर्धमागधी भाषा की स्तवना करते हुए भाव व्यक्त किए हैं-"हम उस अर्धमागधी भाषा का आदरपूर्वक ध्यान-स्तवन करते हैं, जो सबकी है, सर्वज्ञों द्वारा व्यवहृत है, समग्र भाषाओं में परिणत होने वाली है, सार्वजनीन है, सब भाषाओं का स्रोत है[३] ।" भगवती सूत्र में इसे देवभाषा[४] एवं पण्णवणा में इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है[५] ।

भाषा-प्रयोग की अनेक विधाएं होती हैं । जहां श्रद्धा, प्रशस्ति तथा समादर का भाव अधिक होता है, वहां भाषा अर्थवाद-प्रधान हो जाती है । इसे दूषणीय नहीं कहा जाता । पर जहां भाषा का प्रयोग जिस विधा में है, उसे यथावत् रूप से समझ ले तो कठिनाई पैदा नहीं होती । इसी दृष्टि से ये प्रसंग ज्ञेय और व्याख्येय हैं ।

भगवान् महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे । इस समय उपलब्ध अर्धमागधी आगम वाङ्मय उन्हीं की देशना पर आधृत है । अर्धमागधी प्राकृत

भाषा का ही एक रूप है। अर्धमागधी के सम्बन्ध में दो अवधारणाएं हैं। पहली यह है कि यह भाषा मगध के आधे भाग में बोली जाती थी, इसलिए अर्धमागधी है। दूसरी अवधारणा यह है कि इसमें मागधी के आधे लक्षण पाए जाते हैं। मागधी के मुख्य लक्षण तीन हैं- अकारान्त पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति में -ए होना, र का ल तथा ष, स का श होना। इनमें से अर्धमागधी में पहला लक्षण पाया जाता है एवं कभी कभी र का ल भी हो जाता है। इसलिए यह अर्धमागधी है। किन्तु अर्धमागधी में अकारान्त पुल्लिंग में प्रथमा विभक्ति में -ए एवं -ओ दोनों दिखाई पडते हैं। जिनदास महत्तर के अनुसार अर्धमागधी में मागधी शब्दों के साथ-साथ देश्य शब्दों की भी प्रचुरता है। इसलिए यह अर्धमागधी कहलाती है[६]। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश और वर्ग एवं जाति के थे। इसलिए जैन साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। अतः 'मागधी एवं देश्य शब्दों का मिश्रण अर्धमागधी कहलाता है'- यह निशीथ-चूर्णि का मत संभवतः सबसे प्राचीन है।

तत्त्वार्थ की वृत्ति के अनुसार अर्धमागधी भाषा वह होती है जिसमें आधे शब्द मगध देश की भाषा के हों और आधे शब्द भारत की अन्य सभी भाषाओं के हों।[७]

इसलिए समवायांग में तेवीसवें अतिशय की व्याख्या में कहा गया है कि भगवान् की भाषा सभी के लिये सुबोध्य हो जाती है।

समवयांग के वृत्तिकार[८] ने प्राकृत आदि छह भाषाओं—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश में मागधी को भी गिनाया है और यह कहा है कि 'असमाश्रितसमग्रलक्षणा' मागधी ही अर्धमागधी है। इसके लक्षण का निरूपण करते हुए उन्होंने 'रसर्लशौ मागध्याम्' का उल्लेख किया है अर्थात् मागधी में र का ल और स का श हो जाता है।

डॉ. पिशेल के अनुसार आर्ष और मागधी भाषा एक ही है। किन्तु, निशीथ-चूर्णिकार के अनुसार अर्धमागधी में केवल मागधी की ही नहीं किन्तु अठारह देशी भाषागत विशेषताएं उपब्ध हैं। जैन वाङ्मय में अनेक स्थानों पर देशी भाषा सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ नायाधम्मकहाओ में सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है-तब वह कुमार...अठारह

प्रकार की देशी भाषाओं में प्रवीण हुआ[९]। राजप्रश्नीय[१०] और औपपातिक[११] में प्रसंग है – वह दृढप्रतिज्ञ बालक...अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में विशारद था। विपाकसूत्र[१२] में आया है...वाणिज्यग्राम में कामोद्धृता नामक वेश्या थी, जो...अठारह देशी भाषाओं में कुशल थी। पर वे अठारह देशी भाषाएं कौन सी थीं ? नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत पाठ पर विवेचन करते हुए अष्टादश लिपियों का उल्लेख किया है, पर अठारह देशी भाषाओं का नहीं। जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में मगध, मालवा,. महाराष्ट्र, लाट, कर्नाटक, द्रविड, गौड और विदर्भ इन आठ देशों की भाषाओं को देशी कहा है। बृहत्कल्पभाष्य[१३] में आचार्य संघदासगणी ने भी इन्हीं भाषाओं का उल्लेख किया है। कुवलयमाला[१४] में उद्योतनसूरि ने गोल्ल, मध्यप्रदेश, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्नाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ट और आन्ध्र इन सोलह भाषाओं का उल्लेख किया है। साथ ही सोलह गाथाओं में उन भाषाओं के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। डॉ. ए. मास्टर[१५] का सुझाव है कि इन सोलह भाषाओं में ओड्र और द्राविड भाषाएं मिला देने से जो अठारह भाषाएं देशी कहलाती हैं, वे हो जाती हैं। इसलिए जिसे उत्तरवर्ती व्याकरणों ने आर्ष कहा हैं, वह व्याकरण के नियमों से सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं है और लौकिक संस्कृत की भांति बहुत नियन्त्रित भी नहीं है। आर्ष-प्रयोग प्राचीन व्याकरण से नियन्त्रित है। उन नियमों की जानकारी वैदिक व्याकरण के नियमों के सन्दर्भ में की जा सकती है।

आचार्य हेमचन्द्र एवं त्रिविक्रम ने आर्ष का विवेचन किया है। वस्तुतः जैन परम्परा के आचार्य होने के नाते हेमचन्द्र का, अर्धमागधी (जो जैन आगमों की भाषा है) के प्रति विशेष आदरपूर्ण भाव था, अतएव उन्होंने इसे आर्ष नाम से अभिहित किया। [१६]इस आर्ष शब्द का मूल आगम का ऋषिभाषित शब्द है।[१७] आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आर्ष-विधियों को वैकल्पिक बताया है[१८]। इस नियम के अनुसार उन्होंने आगम-सूत्रों के उन स्थलों का निर्देश किया हैं, जो उनकी दृष्टि में व्याकरण-सिद्ध नहीं थे। उदाहरण के रूप में कुछ प्रयोग प्रस्तुत हैं-

'पच्छेकम्मं', 'असहेज्ज' ये दोनों आर्ष प्रयोग हैं। इनमें जो 'एकार' है, वह व्याकरण सिद्ध नहीं है[१९]।

'आउंटणं,'—इस प्रयोग में जो 'चकार' को 'टकार' वर्णादेश है, वह व्याकरण-सिद्ध नहीं हैं ।[२०]

'अहक्खायं', 'अहाजायं'-प्राकृत व्याकरण के अनुसार आदि के 'यकार' को 'जकार' वर्णादेश होता है। किन्तु आर्ष-प्रयोग में 'य्' का लोप भी हो जाता है। ये दोनों प्रयोग इसके उदाहरण हैं ।[२१]

'दुवालसंगे'-प्राकृत व्याकरण के अनुसार इस प्रयोग में लकार वर्णादेश प्राप्त नहीं है, किन्तु आर्ष में ऐसा प्रयोग मिलता है ।[२२]

'इक्खू, खीरं, सारिक्खं'-ये आर्ष प्रयोग हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अक्ष्यादि गण के संयुक्त 'क्ष' को 'छकार' आदेश होता है। जैसे उच्छू, छीरं, सारिच्छं ।[२३]

प्राकृत भाषा में सामान्यतः 'क्ष' को 'ख' कार आदेश होता है ।[२४] आर्ष प्रयोगों में प्रायः वही मिलता है।

आर्ष प्रयोग में 'थ्य' को चकार आदेश होता है ।[२५] जबकि प्राकृत व्याकरण से उसे छकार आदेश किया गया है।

प्राकृत व्याकरण में 'श्मशान' का 'मसाण' रूप बनता है। आर्ष प्रयोग में इसके दो रूप मिलते हैं-सीआण, सुसाण ।[२६]

प्राकृत में स्रोत शब्द का सोत्तं रूप बनता है किन्तु आर्ष में 'पडिसोओ,' 'विस्सोअसिआ'-रूप भी मिलते हैं ।[२७]

आर्ष-प्रयोग में संयुक्त वर्ण के अन्त्य व्यञ्जन से पूर्व 'अकार' होता है ।[२८] तथा 'उकार' भी होता है[२९] ।

आर्ष-प्रयोग में 'किरिया' पद का 'किया' रूप भी मिलता है[३०] ।

आर्ष-प्रयोग में द्रह शब्द का 'हरए' रूप मिलता है[३१] ।

'कट्टु' -यह आर्ष प्रयोग है[३२] ।

निपात प्रकरण में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि आर्ष प्रकरण में जो प्रयोग उपलब्ध हैं, वे सब अविरुद्ध हैं[३३] ।

आर्ष-प्रयोग में संस्कृत-सिद्ध रूपों के प्रतिरूप भी मिलते हैं[३४] ।

शौरसेनी में 'णं' ननु के अर्थ में निपात है, किन्तु आर्ष प्रयोगों में वह वाक्यालंकार में भी प्रयुक्त होता है[३५]।

आगम-सूत्रों के व्याख्याकार व्याकरण से सिद्ध न होने वाले आर्ष प्रयोगों को अलाक्षणिक और सामयिक कहते हैं। 'वत्थगंधमलंकारं' (दसवेआलियं, २.२) इस पद में 'मलंकार' का 'म' अलाक्षणिक है। हरिभद्रसूरी ने लिखा है-अनुस्वार अलाक्षणिक है। मुख-सुखोच्चारण के लिए इसका प्रयोग किया गया है[३६]। प्राकृत व्याकरण में पकार के लुक् का विधान है और पकार को वकार वर्णादेश भी होता है[३८]। इन दोनों की प्राप्ति होने पर क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासा के उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है-जिससे श्रुतिसुख उत्पन्न हो, वही करना चाहिए[३९]।

'दंतसोहणमाइस्स' (उत्तरा. १९.२७) इस पद में भी मकार अलाक्षणिक माना जाता है। किन्तु इन सबके पीछे सुखोच्चारण तथा छंदोबद्धता का दृष्टिकोण है। 'वत्थगंधालंकारं' तथा 'दतंसोहणाइस्स'-इन प्रयोगों में उच्चारण की मृदुता भी नष्ट होती है और छंदोभंग भी हो जाता है।

हरिभद्रसूरि ने 'गोचर' शब्द को सामयिक (समय या आगमसिद्ध) बतलाया है। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार 'गोचार' होना चाहिए था।[४०]

आगमिक प्रयोगों में विभक्तिरहित पद भी मिलते हैं। 'गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽ-साहू' (दसवै. ९।३।११) यहां 'गुण' शब्द द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है। पर यहां इसकी विभक्ति का निर्देश नहीं है।

'इंगालधूमकारण'-इस पद में विभक्ति नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार के विभक्ति लोप का हेतु आर्षप्रयोग बतलाया है[४१]।

आर्ष या सामयिक प्रयोग के प्रतिपादन का हेतु काल का अन्तराल है। आगम सूत्रों के कुछ प्रयोग व्याकरणसिद्ध नहीं हैं, इस धारणा के पीछे दो हेतु थे—

१. प्राकृत व्याकरणकारों के समय जो व्याकरण उपलब्ध थे या उन्हें जो नियम ज्ञात थे, उनसे वे प्रयोग सिद्ध नहीं होते थे।

२. प्राकृत व्याकरणकार प्राकृत की प्रकृति संस्कृत मानकर चले। आगम

सूत्रों में बहुत सारे देशी भाषा के प्रयोग हैं, जिनका संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इन धारणाओं से उन्होंने उन प्रयोगों को अलाक्षणिक, आर्ष या सामयिक कहा। यदि हम काल के अन्तराल पर ध्यान दें तो कुछ नए तथ्य उद्घाटित होंगे। निशीथभाष्य[४२] में आगमसूत्रों को 'पुराण' कहा गया है। उनका विषय भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित और उनका संकलन गणधरों द्वारा कृत है, इसलिए वे पुराण प्राचीन है। उनकी भाषा 'प्राकृत अर्धमागधी' है और उसमें अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है। आगम सूत्रों की मूलभाषा अर्धमागधी रही है। देवर्धिगणी ने आगमों का नया संस्करण वल्लभी में किया था। महाराष्ट्र में जैन श्रमणों का विहार होने लगा। उस स्थिति में आगमसूत्रों की अर्धमागधी भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित हो गई, आचार्य हेमचन्द्र का विहार स्थल भी मुख्यतः गुजरात था। वह महाराष्ट्र का समीपवर्ती प्रदेश है। उन्होंने महाराष्ट्री के प्रचलित प्रयोगों को अपने प्राकृत व्याकरण में प्रमुख स्थान दिया। अर्धमागधी के उन प्राचीन रूपों, जो उस समय तक आगमों में सुरक्षित थे, को आर्ष प्रयोग के रूप में उल्लिखित किया गया। मूलतः प्राचीन आगम-सूत्रों (आयारो, सूयगड, उत्तरज्झयणाणि, आदि) की भाषा महाराष्ट्री नहीं थी, किन्तु उत्तरकालीन आगमों तथा उनके व्याख्याग्रंथों की भाषा महाराष्ट्री हो गई। सभी जैनागमों की भाषा न अर्धमागधी है और न महाराष्ट्री। आर्ष प्राकृत का अध्ययन करते समय यह तथ्य विस्मृत नहीं होना चाहिए।

सन्दर्भ स्थलः

१. समवाओ, ३४।२२,२३, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, १९८७-'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सिरिसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहदाभासत्ताए परिणमइ।'
२. ओवाइय सूत्र ८१-पृ. ४६, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, १९८७।
३. अलंकारतिलक, १.१-सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सार्वीयां सर्वतोवाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे।
४. भगवई, ५। ९३-देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति।
५. पण्णवणा, १।१८-से किं तं भासारिया? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासिंति। जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तइ।

६. निशीथचूर्णि

मगहद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं ।

अट्ठारसदेसीभासाणियतं वा अद्धमागहं ।

७. षट्प्राभृतटीका, पृ. ९९—सर्वार्धं मगधीया भाषा भवति । कोऽर्थः ? अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्द्धं च सर्वभाषात्मकम् ।

८. समवायांगवृत्ति, पत्र ५९

प्राकतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा 'रसोर्लशौ' मागध्यात्मित्यादि-लक्षणवती सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्द्धमागधीत्युच्यते ।

९. नायाधम्मकहाओ, १।१।८८, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, वि.सं. २०३१ ।

१०. रायपसेणियं, सूत्र, ८०१, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान १९८७ ।

११. ओवाइयं, सू. १४८, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, वि.सं. २०३१ ।

१२. विवागसूयं, २।७, जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान, वि.सं. २०३१ ।

१३. बृहत्कल्पभाष्य, द्वितीय भाग, गाथा नं. १२२९ की वृत्ति ।

१४. कुवलयमाला, पृ. १५२-५३, ए. एन. उपाध्ये

१५. A Master-B, SOAS, XIII-2, 1950, pp. 41315

१६. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण ८।४।२८७

१७. ठाणं, ७।४८।१०

सक्कता पागता चेव, दुहा भणितीओ आहिया ।

सरमंडलंमि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता ॥

१८. हेमशब्दानुशासनम्, ८।१।३—आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते ।

१९. हेमशब्दानुशासनम्, ८।१।७९ : आर्षे अन्यत्रापि । पच्छेकम्मं । असहेज्ज देवासुरी ।

२०. वही, ८।१।१७७ : आर्षे अन्यदपि दृश्यते । आकुञ्चनम् आउण्टणं । अत्र चस्य टत्वम् ।

२१. वही, ८।१।२४५ : आर्षे लोपोपि । यथाख्यातम्=अहक्खायं । यथाजातम्=अहाजायं ।

२२. वही, ८।१।२५४ : आर्षे दुवालसङ्गे इत्याद्यपि ।

२३. वही, ८।२।१७ : आर्षे इक्खू, खीरं, सारिक्खमित्याद्यपि दृश्यते ।

२४. वही, ८।२।३ : क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ ।

२५, वही, ८।२।२१ : आर्षे तथ्ये चोऽपि = तच्चं ।

२६. वही, ८।२।८६ : आर्षे श्मशानशब्दस्य सीआणं सुसाणमित्यपि भवति ।

२७. वही, ८।२।९८ : आर्षे पडिसोओ विस्सोअसिआ ।

२८. वही, ८।२।१०१ : आर्षे सूक्ष्मेऽपि, सुहमं ।

२९. वही, ८।२।११३ : आर्षे सूक्ष्मेऽपि, सुहुमं ।

३०. वही, ८।२।१०४ : किरिया, आर्षे तु हयं नाणं कियाहीणं ।

३१. वही, ८।२।१२० : आर्षे हरए महपुण्डरिए ।

३२. वही, ८।२।१४६ : कट्टु इति तु आर्षे ।

३३. वही, ८।२।१७४ : आर्षे तु यथादर्शनं सर्वमविरुद्धम् ।

३४. वही, ८।३।१६२ : आर्षे देविन्दो इणमब्बवी इत्यादौ सिद्धावस्थाश्रयणात् ह्यस्तन्याः प्रयोगः ।

३५. वही, ८।४।२८३ : आर्षे वाक्यालंकारेऽपि दृश्यते ।

३६. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ८६—अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, मुखसुखोच्चारणार्थः ।

३७. हेमशब्दानुशासनम्, ८।१।१७७ : क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ।

३८. वही, ८।१।२३१ : पो वः ।

३९. वही, ८।१।२३१ : वृत्ति—एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः ।

४०. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १९ : सामयिकत्वात् गोरिव चरणं गोचरः अन्यथा गोचारः ।

४१. पिण्डनिर्युक्ति, गाथा १, वृत्ति—सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात् ।

४२. निशीथ भाष्य, गाथा ३६१८

पोराणमद्धमागहभासाणिययं हवति सुत्तं ॥

चूर्णि—तित्थयरभासितो जस्सऽत्थो गंधो य गणधरणिबद्धो तं पोराणं । अहवा पाययबद्धं पोराणं, मगहऽद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमगहं । अधवा-अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागधं भवति सुत्तं ।

शौरसेनी प्राकृत में प्राचीन भाषा तत्त्व

—प्रो. प्रेम सुमन जैन

जैन परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। श्रमण परम्परा के पोषक वैदिक युगीन व्रात्य आदि प्राचीन प्राकृत का व्यवहार करते थे। उनकी प्राकृत साहित्यिक भाषा छान्दस् से भिन्न थी। वह शूरसेनों की भाषा प्राकृत की परम्परा में विकसित हुई थी। श्रमण परम्परा के महापुरुष भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेशों की भाषा जन-बोली प्राकृत को बनाया। महावीर के उपदेश दो रूपों में संरक्षित और संकलित हुए। गणधर और आचार्यों की परम्परा द्वारा अपनी स्मृति से महावीर के उपदेशों को द्वादशांग श्रुत के रूप में सुरक्षित रखा गया था, वह क्रमशः विलुप्त होता गया। अतः शेष श्रुतांश को दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना कर और उसे ईसा की प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध कर सुरक्षित किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ई.पू. प्रथम शताब्दी में गुणधराचार्य ने 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना १८० शौरसेनी प्राकृत गाथाओं में की। दिगम्बर परम्परा में लिपिबद्ध श्रुत ग्रन्थों की श्रेणी में गुणधराचार्य को प्रथम श्रुतकार स्वीकार किया गया है।[१] इन्हीं के परवर्ती आचार्य धरसेन की प्रेरणा से आचार्य पुष्पदन्त एवं मुनिश्री भूतबलि (ईसा के ७३ से ८७ वर्ष के लगभग) ने 'षट्खण्डागम' नामक ग्रन्थ की शौरसेनी प्राकृत में रचना की और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) को उसकी लिखित ताड़पत्रीय प्रति की संघ ने पूजा की।[२] ग्रन्थलेखन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। जैन आगमों की यह सुरक्षा तत्कालीन प्रमुख प्राचीन प्राकृत शौरसेनी में की गयी। यही शौरसेनी प्राकृत तब दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सम्पर्क भाषा प्राकृत के रूप में प्रसिद्ध थी। अतः दिगम्बर परम्परा के इन ग्रन्थों में कहीं इस प्राकृत के नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं हुई और इस भाषा की परम्परा आगे १२वीं-१३वीं शताब्दी तक ग्रन्थलेखन में चलती रही।

महावीर के उपदेशों को सुरक्षित रखने का दूसरा प्रयत्न श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा में भी हुआ। श्रुत एवं स्मरण की परम्परा से उन्होंने महावीर के उपदेशों को ११ अंग ग्रन्थों के रूप में संकलित किया। फिर शेष उपदेशों को

उपांग एवं मूलसूत्र ग्रन्थों में संकलित किया। और सम्पूर्ण कार्य होने पर ईसा की पांचवीं शताब्दी के लगभग वल्लभी नगर में सम्पूर्ण आगम ग्रन्थों को प्रथम बार लिपिबद्ध भी कर लिया गया। ये आगम जिस प्राकृत भाषा में संकलित किये गये, उसे अर्ध मगध की प्राकृत कहा गया है। शौरसेनी और मागधी प्राकृत के मेल से निर्मित यह अर्धमागधी प्राकृत साहित्य के लिए नयी भाषा होने के कारण इसके नाम का उल्लेख भी कुछ परवर्ती आगम ग्रन्थों में किया गया। यह अर्धमागधी प्राकृत श्वेताम्बर परम्परा के धार्मिक ग्रन्थों की भाषा बनी रहे, इस कारण पांचवीं शताब्दी के बाद इस अर्धमागधी प्राकृत में फिर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। क्योंकि यह विशिष्ट प्राकृत भाषा जन-सामान्य में प्रचलित भी नहीं थी। वह देवभाषा, आर्ष भाषा बन कर रह गयी। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के परवर्ती धार्मिक कथा-ग्रन्थों और व्याख्या साहित्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया गया, जो शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है। दिगम्बर परम्परा ने धार्मिक कथा और काव्य ग्रन्थों के लिए प्राकृत से विकसित अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार भगवान् महावीर के बाद लगभग दो हजार वर्षों तक जैन ग्रन्थों के साथ शौरसेनी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का सम्बन्ध बना रहा है। अतः प्राकृत जैन परम्परा की मूल भाषा है। यद्यपि जैनाचार्यों ने भारत की प्रायः सभी भाषाओं में अपना साहित्य लिखा हैं।

सामान्य प्राकृत = शौरसेनी प्राकृत

प्राकृत व्याकरण के प्राचीन सिद्धान्तों के उपलब्ध उल्लेखों एवं प्राकृत व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थों के विवरण से स्पष्ट है कि सभी ने प्राकृत को एक व्याकरण-सम्मत एवं साहित्य की समर्थ भाषा स्वीकार किया हैं। स्थानीय प्रभाव एवं प्रयोग की विशिष्टता के कारण सामान्य प्राकृत कतिपय विशिष्ट प्रयोगों के कारण भिन्न नामों से जानी जाती रही है। उनमें शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री एवं पैशाची प्राकृतों के नाम प्रायः सभी ने गिनाये हैं। इनमें आधार-भूत, सामान्य प्राकृत किसे स्वीकार किया जाय, इस विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् प्रयत्न करते रहे हैं।

संस्कृत में प्राकृत का व्याकरण लिखने वाले वैयाकरणों का प्रमुख लक्ष्य काव्य भाषा प्राकृत के स्वरूप को प्रकट करना रहा है। काव्यों, नाटकों, कथाओं

में प्रयुक्त प्राकृतों में उन्हें सामान्य प्राकृत वही प्रतीत हुई, जिसके अपने कोई विशेष लक्षण नहीं थे। अतः अधिकांश वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत के रूप में प्रस्तुत किया। किन्तु जो वैयाकरण यह जानते थे कि सामान्य प्राकृत के प्रायः सभी लक्षणों को समेटे हुए जो अन्य विशिष्ट लक्षणों से भी युक्त है ऐसी शौरसेनी प्राकृत प्रमुख है और उन्होंने शौरसेनी प्राकृत को आधारभूत प्राकृत कहा।[3]

प्राकृत वैयाकरणों ने दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी प्राकृत के उदाहरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिये और न ही श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के सन्दर्भ देकर अर्धमागधी प्राकृत के लक्षणों का विवेचन किया। इस साहित्य से वे परिचित न रहे हों, ऐसा हो नहीं सकता। इस स्थिति के पीछे यही कारण प्रतीत होता है कि वैयाकरण उनके लिए प्राकृत व्याकरण लिख रहे थे, जो संस्कृतज्ञ थे और जो संस्कृत के माध्यम से प्राकृत का ज्ञान प्राप्त कर काव्य, नाटक में प्रवृत्त हो सकें या उनका आनन्द ले सकें। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वैयाकरण यह भी समझते थे कि जो शौरसेनी एवं महाराष्ट्री के नियमों को पूर्णतया जानता है वह काव्य, नाटक के साथ सिद्धान्त एवं आगम ग्रन्थों की भाषा को भी समझ सकता है। क्योंकि शौरसेनी प्राकृत ही अन्य भाषाओं की मूलाधार है।

शौरसेनी को मूल प्राकृत मानने की परम्परा श्रमण संस्कृति में विद्यमान है। शूरसेन प्रदेश और सूरसेनों की भाषा होने से यह शौरसेनी बाद में विकसित अन्य प्राकृतों से इतिहास की दृष्टि से प्राचीन है। वैदिक युग में मध्यदेश की समर्थ जनबोली होने से शौरसेनी प्राकृत का विस्तार क्षेत्र विकसित था, जबकि अन्य प्राकृतें अपने स्थान तक ही सीमित रहीं। मध्यदेश के पड़ौसी भूभाग मगध में विकसित होने वाली मागधी प्राकृत को पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों का आधार माना जाता है जबकि स्वयं मागधी की आधारभाषा शौरसेनी प्राकृत थी। भरत ने शौरसेनी के नियम और गाथाओं को अपने नाट्यशास्त्र में सम्मिलित किया। प्राचीन प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने स्पष्ट किया कि मागधी की प्रकृति शौरसेनी को जानना चाहिये–**अस्या मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदितव्यम्**–११/२

त्रिविक्रम ने भी इसी का समर्थन किया (३-२-२७)। पैशाची प्राकृत की प्रकृति भी शौरसेनी प्राकृति है।[४] ७वीं शताब्दी के महाकवि रविषेण ने भी सामान्य भाषा प्राकृत को शौरसेनी मानते हुए उसे व्याकरण आदि से सुसंस्कारित और लोकभाषा माना है, जिसकी ज्ञाता कैकयी थी-

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता ।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता ॥

-पद्मपुराण, २४-११

प्राकृत का उत्पत्ति स्थान कौन-सा है और मूल प्राकृत कौन-सी है ? इस पर विस्तृत विमर्श करते हुए प्रो. मनमोहन घोष ने यह निष्कर्ष दिया है कि भारत का मध्यदेश ही प्राकृत का उद्भव स्थल है। वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत शब्द का अर्थ शौरसेनी प्राकृत है। दिगम्बर परम्परा में लिखित जैन आगम ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी प्राकृत भी इसी मत को पुष्ट करती है। इस मूल प्राकृत शौरसेनी से ही अन्य प्राकृतों - मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि का विकास हुआ है -

The Indian midland was the original home of Prakrit. This would bring Sauraseni and Prakrit very near to each other and they may in fact be the same language, considered to be different by grammarians owing to the reasons suggested above. That the unnamed Parkrit of the Digambara Jain Canon has a marked Śauraseni character may well support this view.[५]

डॉ. घोष ने अपने इस विस्तृत लेख में विभिन्न प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि प्रमुख वैयाकरणों एवं काव्यशास्त्रियों ने सामान्य प्राकृत के रूप में शौरसेनी को स्वीकार किया है और कई ने तो महाराष्ट्री एवं अर्धमागधी का नाम ही नहीं लिया। वे चार प्राकृतों का ही उल्लेख करते है - शौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं अपभ्रंश। अतः महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकसित रूप है।[६] प्रो. घोष ने आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त शौरसेनी प्राकृत गाथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।[७] उन्होंने प्राचीन शौरसेनी को महाराष्ट्री प्राकृत की जननी कहा है।[८] डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी शौरसेनी

प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक अवस्था को महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं ।[९]

प्रो. पी. एल. वैद्य ने भी अपने एक लेख में यह स्पष्ट किया है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत मुख्य रूप से शौरसेनी प्राकृत थी । शौरसेनी ही मागधी और अर्धमागधी का मूल आधार थी ।[१०] प्रो. ए. एम. घाटगे ने नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण किया है और शौरसेनी को सामान्य प्राकृत के रूप में वहाँ स्वीकार किया गया है ।[११] इसी शौरसेनी का अध्ययन जर्मन विद्वान् आर शिमदित ने भी किया है[१२] जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रो. एस. आर. बनर्जी ने प्रकाशित किया है ।

इस प्रकार साहित्य में शौरसेनी प्राकृत की प्रमुखता, वैदिक युग में प्राकृत के प्रमुख क्षेत्र मध्यदेश (शूरसेन जनपद) की प्राचीनता, शौरसेनी प्राकृत का देश के विभिन्न भागों में प्रयोग और विभिन्न प्राकृतों के प्रमुख लक्षणों का शौरसेनी में समावेश आदि प्रमुख कारण हैं जो शौरसेनी प्राकृत को भारत देश की मूल जनभाषा प्राकृत के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं । दिगम्बर जैन ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी प्राकृत एवं नाटकों में प्रयुक्त नाटकीय शौरसेनी प्राकृत उसी मूल शौरसेनी प्राकृत के परवर्ती रूप हैं, जिनमें समानता अधिक, भिन्नता कम है । प्राकृत वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों में शौरसेनी की जो प्रमुख विशेषताएँ गिनायी हैं, वे उसकी विशिष्टता बताने के लिए हैं । अन्यथा प्राकृत के प्रायः सभी नियम शौरसेनी के नियम ही हैं क्योंकि केवल विशिष्ट १५-२० नियमों से कोई भी प्राकृत व्यवहार में नहीं लायी जा सकती है । प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डोल्ची नित्ति का भी सुझाव है कि वररुचि द्वारा जो १४ सूत्र पैशाची प्राकृत के लिए दिये हैं उसके अतिरिक्त प्रारम्भ में दिये गये सामान्य प्राकृत के ४२४ सूत्र भी पैशाची पर लागू हैं । यही बात अन्य प्राकृत भाषाओं पर समझनी चाहिए ।[१३] अतः शौरसेनी प्राकृत के व्यापक स्वरूप को समझने के लिए सभी प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को समझना होगा । इसके लिए विभिन्न प्राकृतों की जानकारी उपयोगी होगी ।

प्राचीन भारतीय भाषाओं में प्राकृत भाषा का विशेष महत्त्व है क्योंकि वह साहित्यिक भाषा की आधार भाषा है । शौरसेनी प्राकृत सिद्धान्त-दर्शन और

काव्य दोनों की भाषा रही है। राजकीय आदेशों और जनपदों में भी वह प्रयोग की जाती रही है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक का भूभाग शौरसेनी का विकास क्षेत्र रहा है। सूरसेन भूभाग के अस्तित्व के समय से लोक भाषा के रूप में नाटकों के निर्माण-काल के प्रारम्भ से काव्य भाषा के रूप में और श्रमण-परम्परा के शुभारम्भ से सिद्धान्तभाषा के रूप में शौरसेनी प्राकृत की प्राचीनता का सम्बन्ध जुड़ता है। वैदिक भाषा में भी प्राकृत के तत्त्व उपलब्ध हैं। एशिया के विभिन्न भूभागों की साहसिक यात्रा करने वाले जाने-अनजाने व्यापारियों की भाषा के प्रयोग भी प्राकृत की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। प्रो. ए. एम. घाटगे के अनुसार अन्तर स्वरात्मक घोषीकरण की प्रक्रिया शौरसेनी प्राकृत को अन्य प्राकृत बोलियों से भिन्न एवं मौलिक भाषा का रूप प्रदान करती है।[१४] शौरसेनी में प्रयुक्त 'मादा' 'पिदा' आदि शब्द प्राचीन आर्यभाषा के मातृ, पितृ शब्द के समान प्राचीन हैं जिनका सम्बन्ध जर्मन, इटेलियन आदि प्राचीन भाषाओं से भी जुड़ता है।

प्राकृत-भाषा का उपयोग जितना आगम-साहित्य के लिए हुआ, उतना ही काव्य-साहित्य के लिए भी। एक ओर भगवान् महावीर के वचनों को श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा अर्धमागधी भाषा में सुरक्षित किया गया[१५] तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के जैनाचार्यों ने शौरसेनी-प्राकृत में जैन सिद्धान्तों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों की कई शताब्दियों तक रचना की।[१६] चरित, पुराण, कथा आदि के प्रस्तुतीकरण के लिए महाराष्ट्री प्राकृत को उपयुक्त माना गया, तो नाटकों में कथोपकथन आदि के लिए मागधी प्राकृत का प्रयोग किया गया। किन्तु इन सभी उपयोगों में इन प्रमुख भाषाओं की उदारता इतनी रही कि आवश्यकता के अनुसार वे एक दूसरे की विशेषताओं को निरन्तर अपनाती रहीं। यही कारण है कि आज कोई भी ऐसी प्राकृत नहीं है, जिसमें अपनी समकालीन अन्य प्राकृतों का मिश्रण न हुआ हो। इसलिए काव्य-शास्त्रियों और वैयाकरणों को प्राकृत के भेद-प्रभेदों का विधान करना पड़ा है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने नाटकों में प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषाओं का इस प्रकार उल्लेख किया है-

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाल्हीका दाक्षिणात्या च समभाषाः प्रकीर्तिताः। नाट्यशास्त्र, १७.४८

अर्थात् मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका एवं दाक्षिणात्या ये सात भाषाएँ कही गई हैं। इन भाषाओं का नाटकों में कैसे और कहाँ प्रयोग हुआ है, उसका विवेचन विद्वानों ने किया है[१७] इससे यह स्पष्ट है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के लगभग शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी ये तीन प्रमुख साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ थीं।

भरत और शौरसेनी :

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्राकृतों के नाम के साथ शौरसेनी का उल्लेख कर 'प्राकृत' भाषा के कुछ नियम और उदाहरण भी दिये हैं। प्रारम्भ में १० गाथाएँ प्राकृत में ही लिखी मिलती हैं। किन्तु बाद की गाथाएँ ११ से २५ संस्कृत श्लोक के रूप में हैं,[१८] जो सम्भवतः किसी संस्कृत-प्रेमी लिपिकार ने कर दिये होंगे।

भरत के द्वारा उल्लिखित 'प्राकृत' भाषा एवं अन्य नाटककारों द्वारा प्रयुक्त 'प्राकृत' भाषा का आशय शौरसेनी प्राकृत है, यह मत प्रो. मनमोहन घोष आदि विद्वान् सिद्ध कर चुके हैं। भरत के द्वारा उल्लिखित ये प्राकृत के नियम भी दिगम्बर जैन परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा में प्रायः उपलब्ध हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

भरत नाट्यशास्त्र	*दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थ*
१-ख,घ,थ,ध, और भ का 'ह' में परिवर्तन-	
मुख > मुह	मुह (नियम. ८) सुह (प्रव. १.१३)
मेघ > मेह	मेह
कथा > कहा	बंधकहा (समय. ३)
प्रभूत > पहूअ	पहुदि (नियम १४), पहु (पंचा.२७)
२-ट् का ड्-	
कुटी > कुडी	= कोडी (षट्खं. १-५-१८)
कटक > कडअ	= कडअ (समय. १३०)

३- प का व-

आपान > आवाण =आवण्ण (समय.१३६),तव (समय.१५२)

४- च का लोप-

अचिर > अइर =अइर (भाव.पा. ७६), प्रव. ३.७५

५- थ का ध-

यथा > जधा =जधा (प्रव. ६८)
तथा > तधा =तधा (प्रव. ६८)

६- संयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन-

पथ्य > पच्छ =पच्छ (भावपा.७३)
मह्यं > मज्झं =मज्झ (प्रव. ७३)
दृष्ट > दट्ठ =दट्ठ (भावपा. १५)
उष्ण > उण्ह =उण्ट (प्रव. ६८)
ब्रह्मा > बम्हा =बम्हा (षट्खं. ५-५-१२)
शक्र > सक्क =सक्क (बारह. ५)

ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इनके अतिरिक्त भरत के इन नियमों में १३वें श्लोक में उन्होंने सम्भवतः शौरसेनी के उस प्रसिद्ध नियम का उल्लेख किया है जिसमें अनादि तकार का दकार होता है।[१९] यथा-

लता > लदा, चतुर्गति > चउग्गदि, गच्छति > गच्छदि, आदि। भरत और शौरसेनी प्राकृत पर विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता है।

वैयाकरण और शौरसेनी :

प्रथम वैयाकरण चण्ड ने अपने लघुकाय प्राकृत-लक्षण में शौरसेनी से सम्बन्धित एक ही सूत्र दिया है, परन्तु जो भी नियम निर्धारित किये हैं, वे सभी प्राकृत के सामान्य नियम होते हुए भी शौरसेनी प्राकृत के नियमों संबंधी अधिक वैशिष्ट्य की जानकारी देते हैं। वररुचि ने अपने व्याकरण में प्रारम्भ में जो प्राकृत के नियम दिये हैं, उनमें से अधिकांश नियम शौरसेनी प्राकृत के हैं। उनके लिए सामान्य प्राकृत का अर्थ शौरसेनी रहा है। इसीलिए उन्होंने, पैशाची और मागधी

प्राकृत की प्रकृति भी शौरसेनी को माना हैं। यह बात उन्होंने सामान्य प्राकृत के नौ अध्याय समाप्त करके १०वें एवं ११वें अध्याय में कही हैं। अतः डॉ. शास्त्री ने यह मन्तव्य ठीक ही व्यक्त किया है कि "प्राचीन समय में शौरसेनी इतनी ख्यात थी कि उसे ही सामान्य प्राकृत समझा जाता था"।[२०] डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने सिद्धान्त-ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत के नियमों को सम्मिलित करते हुए कुछ विस्तार से शौरसेनी के नियम दिये हैं।[२१] डॉ. ए. एम. घाटगे ने अपने एक निबन्ध में नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी के नियमों की चर्चा की हैं।[२२] षट्खण्डागम एवं 'कसायपाहुड' आदि ग्रन्थों कें सम्पादकों ने भी परम्परागत रूप से ही शौरसेनी के नियमों की संक्षेप में चर्चा की है। पं. हीरालाल शास्त्री ने वसुनन्दिश्रावकाचार के परिशिष्ट में शौरसेनी को स्पष्ट करने का अच्छा प्रयत्न किया है। पं. बालचन्द्र शास्त्री ने 'षट्खण्डागम : एक परिशीलन' में ग्रन्थ की भाषात्मक सामग्री प्रस्तुत की है, जो उपयोगी है।

क्षेत्र एवं नामकरण :

प्राकृत भाषाओं के उद्भव एवं विकास की एक लम्बी कहानी है। भाषा के इतिहास के साथ प्राकृतों, जनभाषाओं का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। किन्तु प्राकृतों के नामकरण का अब तक ज्ञात प्राचीन स्रोत एक ही है-भरत का नाट्यशास्त्र। उसमें एक साथ सात प्राकृतों का नाम लिया गया है- मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका एवं दाक्षिणात्या।[२३] भरत का समय विद्वानों ने ईसा पूर्व ३री-२री शताब्दी स्वीकार किया है। इस समय तक के श्रमण-परम्परा के ग्रन्थों में प्राकृत के ये नाम प्राप्त नहीं होते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के जिन आगम ग्रन्थों को प्राचीन माना जाता है, उन आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थों की भाषा का कोई नाम उल्लेख नहीं है। परवर्ती अन्य आगमों में जिस अर्धमागधी भाषा (अद्धमागहाए भासाए) का उल्लेख है, उसे विद्वानों ने नाटकों की अर्धमागधी प्राकृत से भिन्न माना है।[२४] पं. बेचरदास दोशी तो उसे 'प्राकृत' ही मानते हैं।[२५] स्थानांगसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में भी संस्कृत और प्राकृत इन दो भाषाओं का ही उल्लेख है-

सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिता॥

साहित्य के ग्रन्थों में भी शौरसेनी को 'प्राकृत' शब्द से जाना जाता रहा है। शूद्रक के मृच्छकटिकम् में सूत्रधार घोषणा करता है कि-यह मैं कार्य के वशसे और प्रयोग की पालना के लिए 'प्राकृत' बोलनेवाला बन जाता हूँ।[२६] इसके बाद सूत्रधार जो प्राकृत-संभाषण करता है, वह सभी अंश शौरसेनी प्राकृत का कहा गया है। आठवीं शताब्दी में रचित उद्द्योतनसूरिकृत कुवलयमाला में भी 'पाययभासा' और 'मरहट्ठय देसी भासा' को अलग-अलग माना गया है। अपभ्रंश और पैशाची का वहाँ अलग उल्लेख है। अतः लेखक ने शौरसेनी का उल्लेख न कर उसे प्राकृत भाषा के रूप में व्यक्त किया है। इसके बाद के कवि राजशेखर ने तो शौरसेनी में ही 'कर्पूरमंजरी' पूरा ग्रन्थ लिखा है। और वे तब प्रमुख/सामान्य प्राकृत के रूप में समझी जाने के कारण ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी के नाम का उल्लेख भी नहीं करते। वे अपने दूसरे ग्रन्थ काव्यमीमांसा में भी चार भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और पैशाची का उल्लेख करते हैं।[२७] यहाँ भी वे प्राकृत को शौरसेनी मानते हैं। इन सब उल्लेखों से शौरसेनी प्राकृत की प्रमुखता प्रतीत होती है।

भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो प्राकृत के नामों में सूरसेन देश में विकसित भाषा शौरसेनी और मगध के आधे क्षेत्र (विषय) में प्रचलित अर्धमागधी यही दो परिभाषाएं प्राकृतों की मूलाधार प्राकृत को तय कर सकेंगी। वैयाकरण लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ षड्भाषाचन्द्रिका (पृ. २) में स्पष्ट किया है कि 'शूरसेन' देश में उत्पन्न भाषा 'शौरसेनी' कही जाती है तथा मगधदेश में उत्पन्न भाषा को मागधी कहते हैं -

सूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते।
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते॥

इतिहास से स्पष्ट है कि शूरसेनी जनपद का अस्तित्व इस देश में मगध भूभाग की स्थापना से प्राचीन है। सूरसेन, मध्यप्रदेश की संस्कृति ही प्राच्या, मगध की और बढ़ी है अतः शौरसेनी प्राकृत ही मगध की भाषा मागधी की विकास का आधार बनी है और मागधी के आधे भूभाग की भाषा अर्धमागधी के रूप में प्रचलित हुई है। शूरसेनों की भाषा शौरसेनी के रूप में प्रचलित तो हुई ही है, साथ ही शूरों (क्षत्रियों) की भाषा होने के कारण भी इसका नाम

शौरसेनी सार्थक हो सकता है। मध्यदेश एवं शूरसेन कर्म से एवं जन्म से क्षत्रिय धर्म को निवाहने वालों का भूभाग रहा है। उन शूरसेनों की भाषा शौरसेनी प्राकृत का जनबोलियों में प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक है। प्राकृतों को जो देशभाषा या देशी भाषा[२८] कहा गया है वह देशभर में प्रचलित होने के कारण, देश = जन-समुदाय की भाषा होने के कारण तो सार्थक है ही, मध्यदेश की भाषा प्राकृत है इस सूचना हेतु भी मध्यदेश में से '**देश**' पद को भाषा के साथ जोड़ा गया है। आ. भरत ने प्राकृत के कुछ नियम बताकर कह दिया कि बाकी लक्षण देशी भाषा (शौरसेनी) में प्रसिद्ध हैं। विद्वान् वहाँ के प्रयोगों से ज्ञात करें :-

एवमेतन्मया प्रोक्तं किंचित् प्राकृतलक्षणम् ।
शेषं देशीप्रसिद्धं च ज्ञेयं विप्राः प्रयोगतः ॥ ना.शा.१७.२५

शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट प्रयोग :

शौरसेनी प्राकृत का ज्ञान विभिन्न प्राकृतों के अभ्यास के बिना अधूरा है। डॉ. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भाषा का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि इसमें अर्धमागधी की कई विशेषताएँ सम्मिलित हैं। शौरसेनी भाषा की पृष्ठभूमि में इस ग्रन्थ की भाषा विकसित हुई है तथा उस पर संस्कृत का भी पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। जब एक ग्रन्थ की भाषा का यह रूप है, तो समस्त दिगम्बर जैन परम्परा के प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा में तो निश्चित ही अर्धमागधी, महाराष्ट्री संस्कृत एवं नाटकीय शौरसेनी के रूप सम्मिलित मिलेंगे ही। क्योंकि इन सब की आधारभूत भाषा शौरसेनी प्राकृत रही है। वहीं से अनेक सामान्य प्रयोग परवर्ती भाषाओं में भी व्याप्त हुए हैं। सिद्धान्त-ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत की सामान्य विशेषताएं एवं नियम विद्वानों ने स्पष्ट किये हैं। कतिपय विशिष्ट शौरसेनी प्रयोग यहाँ भी दृष्टव्य हैं। यथा-

१- दीर्घ एवं ह्रस्व विधान में विकल्प -

केवलिगुणा केवलीणाणं (पंचा. ३०)

२- संधि रूपों में विकल्प-

कोधादीया(समय.-८७) धम्म आदि (समय.-३६)

३- ऋकार का विभिन्न रूपों में परिवर्तन-

अ =अगहिद (षट्खं. १, पृ. १०६) < अगृहीत
इ =इड्ढि (षट्खं. १-१-५९)< ऋद्धिः
उ =पहुडि (षट्खं. १-१-६१)< प्रभृति
ओ =मोस (षट्खं. १-१-४९)< मृषा

४- सरल व्यंजन परिवर्तन-

(१) क के स्थान पर वैकल्पिक प्रयोग-

ग = वेदग (षट्खं. प्र. खं.) < वेदक
एगंतेण (प्रव. ६६) < एकान्तेन
क = अणुकूलं (कार्ति. ४५९) < अनुकूलं
य = णिरयगदी (षट्खं.१-१-२४) < नरकगति
अ = अलिअं (कार्ति. ४०६) < अलीकम्

षट्खंडागम में प्राप्त पागार (प्राकार), सगड (शकट), मसय (मषक) आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

(२) मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप मे विकल्प-

क = पदीवयरा (प्रव. ३३) < प्रदीपकरा
च = वयणेहिं (प्रव. ३४) < वचनैः
त = गइ (षट्खं. १-१-४)< गति
द = बहुभेया (द्र.सं. ३५) < बहुभेदा

प्राचीन शौरसेनी ग्रन्थों में प्राप्त पओअ (प्रयोग), अवजोओ (उपयोग), सायर (सागर), पउर (प्रचुर), मणुअ (मनुज), आदि।

(३) त के स्थान पर द एवं अन्य परितर्वन-

षट्खण्डागम आदि प्राचीन शौरसेनी ग्रन्थों में शब्दों के मध्यवर्ती तकार का प्रायः दकार पाया जाता है। यह शौरसेनी की प्रमुख पहिचान मानी गयी है।[२९] यथा

इदि < इति पव्वदो < पवर्तः घादि < घाति

सुदो < सुतः कुदो < कुतः अरदि < अरति

नामरूपों के अतिरिक्त यह प्रवृत्ति क्रियापदों और कृदन्तों में भी उपलब्ध है । यथा-

भोदि < भवति गच्छदि < गच्छति जाणदि < जानाति

मुदो < मृतः पदिदो < पतितः करिदो < कृतः

कई स्थानों पर त का लोप एवं ड भी मिलता है । यथा-

गइ < गति वइ < व्रत हेउ < हेतु

पडिवत्ती < प्रतिपत्ति पडिसेविद < प्रतिसेवित, आदि ।

(४) मध्यवर्ती महाप्राण का ह-

शौरसेनी प्राकृत में ख, घ, थ, ध, फ, भ, का 'ह' हो जाता है । यथा-

मुह < मुख मेह < मेघ कहा < कथा

मेहा < मेधा लाह < लाभ -हुल्ल < -फुल्ल

अन्य स्थानों पर थ के स्थान पर ध भी पाया जाता है । यथा-

अधवा < अथवा कधं < कथम् पुधं < पृथक्

(५) सम्बन्धक भूतकृदन्त या पूर्वकालिक प्रत्यय 'त्वा' के स्थान पर सर्वाधिक '-दूण' का प्रयोग । यथा -

करिदूण < कृत्वा जाणिदूण < ज्ञात्वा धरेदूण < धृत्वा

(६) संज्ञा शब्दों में पंचमी में -आदो, -आदु, -दो प्रत्ययो के प्रयोग । यथा-

अप्पादो (पंचा.१४९), जीवादो (समय.२८) उदयादु (प्रव.२.६१)

वत्थुदो (समय. २६४) भेददो (नियम.१२) दव्वदो (षट्खं.५.२.५)

शौरसेनी की इस विशेषता का उल्लेख प्रायः सभी वैयाकरणों ने किया है ।[30]

(७) संज्ञा शब्दों के सप्तमी एकवचन में '-म्हि', -म्मि, -ए' प्रत्ययों का प्रयोग । यथा-

जीवम्हि (समय. १०५) अण्णदवियम्हि (प्रव.२.६२)

बहुलम्मि (समय.२४२) ठाणम्मि (समय.२३७)

हेदुभूदे (समय. १०५) गईए, पयडीए (समय. ३१३

प्रवचनसार की गाथा के एक पद में ये तीनों प्रयोग एक साथ विद्यमान हैं। यथा-

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि(?) म्हि। (गाथा.३.११)

(८) शौरसेनी के सिद्वान्त ग्रन्थों में प्रायः 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग उपलब्ध है।

णमो, णाणी, णिद्देसा, णओ, णाम, आलावण, आदि।

(९) प्राचीन भाषा होने के कारण शौरसेनी में देशी शब्दों की प्रचुरता एवं वैकल्पिक रूपों के प्रयोग भी उपलब्ध हैं।

विद्वानों ने सिद्धान्त ग्रन्थों की शौरसेनी और नाटकीय शौरसेनी प्राकृत के विभिन्न भाषा सम्बन्धी नियम तय किये हैं।[३१] किन्तु जब इन ग्रन्थों के आलोचनात्मक सम्पादित संस्करण प्रकाशित होंगे और प्रामाणिक शौरसेनी शब्दकोश तैयार होगा, तब शौरसेनी की भाषात्मक स्वरूप अधिक निखर सकेगा। इस गुरुतर कार्य में विद्वानों के समूह के जुटने की आवश्यकता है। मनीषी साधुओं की प्रेरणा संबल प्रदान करेगी।

शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थों की प्रवृत्तियां और अर्धमागधी प्राकृत :

भगवान् महावीर ने अर्धमागधी में उपदेश दिये थे ऐसी एक मान्यता है- **भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्माइक्खइ**-समवायांगसूत्र नं.३५। किन्तु उस समय की अर्धमागधी और आज के उपलब्ध साहित्य की अर्धमागधी में स्पष्ट अन्तर है, जो स्थान और समय के अन्तराल का प्रभाव है। डॉ. के. आर. चन्द्रा ने वर्तमान अर्धमागधी आगमों में महाराष्ट्री के प्रभाव की प्रचुरता और सम्पादकों द्वारा प्राचीन रूपों को कम अपनाने के कारण आचारांगसूत्र की प्राचीन अर्धमागधी के स्वरूप को खोजने का श्रमसाध्य महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[३२] उन्होंने अपनी पुस्तक में अर्धमागधी की प्राचीनता के जो उदाहरण या नियम स्वीकार किये हैं, उनमें से अधिकांश प्रवृत्तियों के हम सिद्धान्त ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत में भी देख सकते हैं। यथा-

प्रवृत्ति	अर्धमागधी प्रयोग	शौरसेनी प्रयोग
क का ग	सरपादगं	कुलगरो, सावगो, जाणुगं (षट्खं.)
त का द	भविदव्वं	भवदु, गोदम, परिणदो (षट्खं.)
थ का ध	तधा,जधा	तधा, जधा, कधं (षट्खं.)
आत्मा के रूप	अत्ता, अप्पा	अत्ता अप्पा (समय. ८३ एवं २९)
पंचमी ए.ब.	बहुसो,सव्वसो	बहुसो (षट्खं. ४-३-१२)
सप्तमी ए.ब.	इमम्हि	जम्हि, तम्हि, एदम्हि (षट्खं.)
विधिलिंग	चरे,लभे,चिट्ठे,सिया	वंदे, हवे (नियम. ११, १७)
	बूया	सिया (षट्खं. १-८२७)
सम्बन्धक भूतकृदन्त	पप्प,किच्चा, णच्चा	पप्पा (प्रव. ६५, ८३)
त का ड	कडे (कृत)	पहुडि (प्रभृति), पयडि (प्रकृति)
नपुं.ब.ब.	कम्माणि	कम्माणि, णाणाणि (षट्खं.१.११९)

इस प्रकार के प्राचीन प्रयोगों को शौरसेनी प्राकृत के सिद्धान्त ग्रन्थों से एकत्र कर यदि श्रमपूर्वक अध्ययन किया जाय तो शौरसेनी और अर्धमागधी दोनों भाषाओं के स्वरूप को सही आकार मिल सकता है। इन दोनों भाषाओं के समान स्रोत को खोजा जा सकता है। तभी प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन-कार्य भी सार्थक होगा। शौरसेनी प्राकृत के सिद्धान्त ग्रन्थों के भाषा-विश्लेषण के लिए नवीन प्रयत्न अन्वेषणीय है।[३३] इसके लिए पालि भाषा का ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि पालि में मध्यदेशी भाषा शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं।[३४]

पादटीप

१. 'जैन आगम ग्रन्थों का लिपिकरण' — डॉ. सुदर्शनलाल जैन, शोधादर्श जि.२६, पृ. १६३

२. षट्खण्डागम - लेखन कथा — डॉ. राजाराम जैन, आरा, १९९२

३. 'प्रकृतिः शौरसेनी - वररुचि, प्राकृतप्रकाश, १०/२, ११/२

४. 'अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी' - वररुचि, प्राकृतप्रकाश, १०.२

५. मनमोहन घोष : 'महाराष्ट्री-ए लेटर फेज आफ शौरसेनी' नामक लेख, कलकत्ता युनि. जर्नल, जि. ३३, १९३३
६. Prakrit was nothing other than Śaurasenī, for these authors know only S. Mg., P., and A., वही
७. Prakrit Verses in the Bharata-Nāṭyaśāstra by Man Mohan Ghosh, Indian Historical Quarterly, 8, 1932
८. Introduction to Karpūramañjarī, p. 75, Calcutta, 1948
९. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ. १०३, दिल्ली, १९६३.
१०. On The Use of Prakrit Dialects In Sanskrit Dramas - by P.L. Vaidya, ABORI. 33, 1952,p. 15-25.
११. Śaurasenī is taken to be the normal Prakrit of the Sanskrit dramas'–'The Śaurasenī Prakrit', Journal of Bombay University, 1935, Vol. 3, No. 6
१२. R. Schmidt : Elementarbuch der Sauraseni, Hannover, 1924, See for Eng. Trns. Jain Journal, October, 1997
१३. प्राकृत के व्याकरणकार (ले ग्रामेरिआँ प्राकृत), पृ. १-३
१४. हिस्टोरिकल लिंग्विस्टिक्स् एण्ड इण्डो-आर्यन लेंग्वेजेज, पृ. ३६
१५. देखो जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १ एवं भाग २ ।
१६. शास्त्री नेमिचन्द्र, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, प्रथम परिच्छेद ।
१७. कर्पूरमंजरी (सम्पा. मनमोहन घोष), भूमिका, १९४८, कलकत्ता
१८. प्राकृत शब्दानुशासनम् (त्रिविक्रम)-सम्पा. पी.एल.वैद्य, परिशिष्ट, पृ. ४७२-४७५
१९. अस्पष्टश्च दकारो भवत्यनादौ तकार इतराद्यः । भरत. १७.१३
२०. (क) प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ७९
(ख) प्रवचनसार, अंग्रेजी भूमिका, पृ.११६ एवं हिन्दी अनुवाद (प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन) प्रवचनसार, एक अध्ययन, दिल्ली, १९९० पृ. १०६-१२१
२१. अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृ. ३८३-३९४
२२. 'शौरसेनी प्राकृत', जर्नल आफ द युनिवर्सिटी आफ बम्बई, जिल्द ३, भाग ६, १९३५
२३. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः १७.४८

२४. सेठ हरगोविन्ददास; पाइअसद्दमहण्णवो, भूमिका, पृ. ३८
२५. प्राकृत व्याकरण (गुजराती), प्रस्तावना एवं पाइअसद्दमहण्णवो की भूमिका, पृ. ३५
२६. मृच्छकटिकम्, अंक १, ८ वें श्लोक का कथन ।
२७. काव्यमीमांसा, पटना, १९५४, पृ.१४
२८. महाभारत शल्यपर्व ४६,१०३; नाट्यशास्त्र १७.२४,४६; कामसूत्र, १-४-५०
२९. (क) उपाध्ये, ए. एन.; प्रवचसार की भूमिका, पृ. ११६
(ख) शास्त्री, बालचन्द्र, षट्खण्डागम-एक परिशीलन, पृ. २१-२३
(ग) अभिनव प्राकृत व्याकरण, वारणसी, पृ. ३९३
३०. जैन, उदयचन्द्र, 'कुन्दकुन्द साहित्य में भाषिक प्रयोग', प्राकृत विद्या, अप्रैल, ८९, पृ. २-९
३१. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, बारसअणुवेक्खा, जयपुर, १९९१, पृ. ४१-४३
३२. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, अहमदाबाद, १९९१, पृ. ३५-५२
३३. प्रो. प्रेम सुमन जैन की प्रकाश्य पुस्तकें-
(क) शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण (पृ.२८७)
(ख) शौरसेनी प्राकृत प्रबोध (पृ. १०९)
३४. तिवारी, लक्ष्मी नारायण, कच्चायन व्याकरण, वाराणसी, १९६२, भूमिका, पृ. ३८

ग्रंथ-संकेत

१. कार्ति. = कार्तिकेयानुप्रेक्षा
२. द्र.सं. = द्रव्यसंग्रह
३. ना.शा. = भरतनाट्यशास्त्र
४. नियम. = नियमसार
५. प्रव. = प्रवचनसार
६. पंचा. = पंचास्तिकाय
७. बारह. = बारह अणुवेक्खा
८. भावपा. = भावपाहुड
९. षट्खं. = षट्खण्डागम
१०. समय. = समयसार

खारवेल के प्राचीन (ई.सन् पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दी) काल के शिलालेख की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत की तुलना

—सुश्री शोभना आर. शाह

भगवान् महावीर की भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी ? भगवान् महावीर के उपदेशों (अर्थात् जैन आगमों) की भाषा क्या थी, वे किस भाषा में उपदेश देते थे, यह निश्चित करना है। उनका जन्म वैशाली में हुआ था। उनके विहार और प्रचार का मुख्य क्षेत्र पूर्व में राढ भूमि से लेकर पश्चिम में मगध की सीमा तक, उत्तर में वैशाली से लेकर दक्षिण में राजगृह और मगध की दक्षिणी सीमा तक था।★ अतः उनकी भाषा मगधदेश की मागधी और उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जानेवाली भाषा का मिश्रण होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

भाषा के स्वरूप के विषय में यहाँ ई. स. पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दी के खारवेल के प्राचीन शिलालेख की भाषा के साथ आचारांग और प्रवचनसार [1] की भाषा की तुलना करने से जानकारी प्राप्त होगी कि इन तीनों की भाषा में कितनी समानता है या कितना भेद है। यह जानने के लिए भाषा में प्रयुक्त शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन और पदरचना (कारक, क्रियापद और कृदन्तों) के प्रयोग पर से निश्चय हो सकेगा।

अब हम एक एक मुद्दे की चर्चा करते हैं। पहले पहल ध्वनिपरिवर्तन के प्रयोग को लेते हैं। (आचारांग में ध्वनिपरिवर्तन के प्रयोगों के लिए यहाँ डॉ. श्री चंद्रा साहेब द्वारा संपादित आचारांग[2] के प्रथम अध्ययन का आधार लिया जा रहा है)। नीचे प्रयोगों की संख्या और प्रतिशत (लगभग) दिया जा रहा है।

★ प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, १९६६

१. प्रवचनसार, संपा. डॉ. आ.ने. उपाध्ये अगास, १९६४, (अधिकार और गाथा की संख्या दी गयी है।)

२. आचाराङ्ग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, संपा. के. आर चन्द्रा, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९७ (इस संस्करण के सूत्र नं. दिये गये हैं।)

(१) ध्वनिपरिवर्तन

	आचारांग		खारवेल का शिलालेख		प्रवचनसार	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
मध्यवर्ती त=त	२९७	९९.५%	१०४	१००%	५	०.८४%
मध्यवर्ती त=य	१	०.५%	-	०%	२९	४.८२%
मध्यवर्ती त=द	-	-	-	-	५६०	९४.२७%
मध्यवर्ती द=द	६१	९८.५%	१५	१००%	१४३	९८%
मध्यवर्ती द=य	१	१.५%	-	-	३	२%
मध्यवर्ती थ=थ	१	१६.५%	२	२५%	-	०%
मध्यवर्ती थ=ध	५	८३.५%	६	७५%	२४	५४.५%
मध्यवर्ती थ=ह	-	-	-	-	२०	४५.५%
मध्यवर्ती ध=ध	२८	१००%	९	१००%	२६	५७.८%
मध्यवर्ती ध=ह	-	-	-	-	१९	४२.२%

ध्वनि-परिवर्तन के इस विश्लेषण को देखे तो आचारांग में मध्यवर्ती 'त' का यथावत् 'त' ९९.५% मिलता है, जैसे कि—अक्खातं (आख्यातम्) १, छन्दोवनीता (छन्दोपनीता) ६२ । खारवेल[3] के शिलालेख में मध्यवर्ती 'त' का यथावत् 'त' १००% मिलता है, जैसे कि—पसासितं (प्रशासितम्) ९१.२, पापुनाति (प्राप्नोति) ९१.३ और प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'त' का यथावत् 'त' ०.८४% मिलता है, जैसे कि—अतीदं (अतीतम्) १.१३, अक्खातीदो (अक्षातीतः) १.२९ ।

आचारांग में मध्यवर्ती 'त' का 'य' ०.५ % मिलता है जैसे कि—चयावचइयं (चयापचयितम्) ४५; खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'त' का 'य' ० % मिलता है और प्रवचनसार[4] में मध्यवर्ती 'त' का 'य' ४.८२ % मिलता है, जैसे कि—कया (कृता) २.७०, गयं (गतम्) १.४१, तग्गया (तद्गाता) १.२६,

३. खारवेल का शिलालेख -सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, भाग-१, लेख नं. ९१, डी.सी. सरकार, १९६५ (नं.९१ के बाद के अंक उस लेख की पंक्ति के संख्या क्रम के हैं ।)

४. वही, उपाध्ये

आदि। आचारांग और खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'त' का 'द' एक भी बार नहीं मिलता है जबकि प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'त' का 'द' ९४.२७% मिलता है, जैसे कि—अचेदणं (अचेतनम्) १.२५, णादं (ज्ञातम्) १.५८, परिणद (परिणत) १.८४।

आचारांग[५] में मध्यवर्ती 'द' का 'द' ९८.५ % मिलता है, जैसे कि—अदिन्नादानं २६, कम्मावादी ३, पवेदितं २६। खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'द' का 'द' १००% मिलता है, जैसे कि — पासादं ९१.१०, नादेन ९१.८ जबकि प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'द' का 'द' ९८% मिलता है, जैसे कि — इदं २.९१,९८, छेदो ३.३०, सदा १.१२,२२। आचारांग में मध्यवर्ती 'द' का 'य' १.५% मिलता है, जैसे कि — उब्भिया (उद्भिदा) ४९। खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'द' का 'य' एक भी बार नहीं मिलता है जबकि प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'द' का 'य' २.० % मिलता है, जैसे कि — जइ (यदि) १.६४, पयत्थ (पदार्थ) १.१४।

मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजनों को देखे तो आचारांग में मध्यवर्ती 'थ' का 'थ' १६.५% मिलता है, जैसे कि — पव्वथिते (प्रव्यथितः) १०; खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'थ' का 'थ' २५% मिलता है, जैसे कि—रथ ९१.९ और प्रवचनसार में ०% मिलता है।

आचारांग में मध्यवर्ती 'थ' का 'ध' ८३.५% मिलता है, जैसे कि — अधा (यथा) १,२;१९,४९, महाविधी (महाविथी) २१। खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'थ' का 'ध' ७५% मिलता है, जैसे कि — उत्तरापध (उत्तरापथ) ९१.११, गोरध (गोरथ) ९१.७, मधुरं (मथुराम्) ९१.८ जबकि प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'थ' का 'ध' ५४.५% मिलता है, जैसे कि — तधा (तथा) १.८२, अजधा (अयथा) १.८५।

मध्यवर्ती 'थ' का 'ह' आचारांग और खारवेल के शिलालेख में एक भी बार नहीं मिलता है जबकि प्रवचनसार में ४५.५% मिलता है, जैसे कि—कहं (कथम्) १.२५, ३१, जहा (यथा) १.३०, तहा (तथा) १.५३, ६८।

---

५. वही.

आचारांग में मध्यवर्ती 'ध' का 'ध' १००% मिलता है, जैसे कि—इध १,२६,५६ मेधावी - १७,३०,३३,४७,५४,६१। खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'ध' का 'ध' १००% मिलता है, जैसे कि — मागध ९१.१२ विधि ९१.२ और प्रवचनसार में मध्यवर्ती 'ध' का 'ध' ५७.८% मिलता है, जैसे कि — अधिक १.१९, चक्कधरा १.७३, बाधा १.७६। आचारांग और खारवेल के शिलालेख में मध्यवर्ती 'ध' का 'ह' मिलता ही नहीं है जबकि प्रवचनसार में ४२.२% मिलता है, जैसे कि — गणहर (गणधर) १.४, साहूणं (साधुभ्यः) १.४, तिहा (त्रिधा) १.३६।

इस से यह स्पष्ट है कि प्रवचनसार की प्राकृत (= शौरसेनी) भाषा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं के क्रमिक विकास की दृष्टि से (आचारांग और अशोक के शिलालेखों की भाषा से) परवर्ती क्रम में आती है।

ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से मध्यवर्ती व्यंजन त,थ,द,ध में जो परिवर्तन मिलते हैं उनके निरीक्षण से यह स्पष्ट हो रहा है कि प्रवचनसार में मध्यवर्ती व्यंजनों के घोषीकरण और लोप की प्रवृत्ति आंचारांग और खारवेल के शिलालेख की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवचनसार की भाषा का स्वरूप परवर्ती काल का है जबकि आचारांग की भाषा का स्वरूप प्राचीन प्रतीत होता है और खारवेल के शिलालेख की भाषा से काल की दृष्टि से अधिक दूर की भाषा नहीं है ऐसा साबित होता है।

(२) पदरचना

(अ) अकारान्त पुं. प्रथमा विभक्ति ए.व. के प्रत्यय

	आचारांग[६]		खारवेल का शिलालेख		प्रवचनसार	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
–ए	७६६	८८.२५%	१	६%	–	–
–ओ	१०२	११.७५%	१५	९४%	सभी	१००%

६. आचारांगसूत्र के पूरे प्रथम श्रुतस्कंध, (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९९७ के संस्करण) में प्रयुक्त सभी शब्द-रूपों संबंधी यह गणना की गई है।

उपरोक्त विश्लेषण के अनुसार आचारांग में -ए प्रत्यय का प्रयोग ८८.२५% है और खारवेल के शिलालेख में -ए प्रत्यय का प्रयोग ६% मिलता है, जैसे कि—कपरुखे (कल्पवृक्षः) ९१.९ जबकि प्रवचनसार में -ए प्रत्यय ०% मिलता है। आचारांग में — ओ प्रत्यय का प्रयोग ११.७५% है। खारवेल के शिलालेख में -ओ प्रत्यय का प्रयोग ९४% मिलता है और प्रवचनसार में सभी जगह -ओ प्रत्यय ही मिलता है जो बुद्ध और महावीर के काल के पूर्वप्रदेश की भाषा की प्रवृत्ति नहीं है। -ए प्रत्यय पूर्वप्रदेश की भाषा यानी मागधी का लक्षण है। इस प्रकार आचारांग की भाषा का पूर्वप्रदेश की भाषा के साथ अधिक संबंध है जबकि प्रवचनसार की भाषा का पूर्व प्रदेश की भाषा के साथ कोई संबंध दिखता ही नहीं है।

(ब) वर्तमान काल तृ. पु., ए.व. के प्रत्यय

प्रत्यय	आचारांग[७]		खारवेल का शिलालेख		प्रवचनसार	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
-ति	२६४	९२.६३%	२६	१००%	-	-
-ते	१४	४.९२%	-	-	-	-
-इ	७	२.४५%	-	-	-	-
-दि	-	-	-	-	२१६	९९%
-दे	-	-	-	-	२	१%

वर्तमान काल तृ. पु., ए.व. का प्रत्यय - ति आचारांग में ९२.६३% मिलता है, - ते प्रत्यय ४.९२% मिलता है और -इ प्रत्यय २.४५% मिलता है। खारवेल के शिलालेख में सभी जगह -ति प्रत्यय ही मिलता है अतः १००% है। प्रवचनसार में -ति, -ते, -इ प्रत्यय मिलते ही नहीं हैं, सिर्फ -दि और -दे प्रत्यय ही मिलते हैं और -दि प्रत्यय का प्रयोग ९९% मिलता है जबकि -दे का १% है।

आचारांग में वर्तमान काल तृ.पु.ए.व. के प्रत्यय के रूप में -ति, -ते

७. वही, म.जै.वि.संस्करण

और -इ के प्रयोग मिलते हैं ।

खारवेल के शिलालेख में मात्र -ति प्रत्यय ही मिलता है। प्रवचनसार में अधिकतर -दि और कभी कभी ही -दे प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है । इससे भी यही साबित होता है कि प्रवचनसार की भाषा में घोषीकरण की प्रवृत्ति की प्रधानता है और इसलिए प्रवचनसार की भाषा खारवेल के शिलालेख और आचारांग की भाषा से उत्तरकाल की भाषा है ।

(क) आचारांग और प्रवचनसार में प्रयुक्त कतिपय समान शब्दरूपों की तुलना

आचारांग[८] (प्रथम श्रुतस्कंध)		प्रवचनसार
करेति	२.५.९३; ३.२.११२	करेदि २.९३
जाणति	१.७.५६; २.२.९१	जाणदि १.२९, ३२, ५१
रज्जति	२.६.९८	रज्जदि २.८४; ३.४३
विज्जति	३.१.११०; ४.१३१; ४.४.१४६, १७६	विज्जदि १.१७, १८, ४६

(ख) हेत्वर्थक कृदन्त के प्रत्यय

आचाराङ्ग[९]	संख्या	खारवेल का शिलालेख संख्या	प्रवचनसार संख्या
-तुं	२	३	०
-दुं	०	०	१

हेत्वर्थक कृदन्त के लिए आचारांग और खारवेल के शिलालेख में-तुं प्रत्यय ही मिलता है । आचारांग में - तुं प्रत्यय २ बार मिलता है—वीजितुं (वीजितुम्) ५६, पातुं (पातुम्) २७ और खारवेल के शिलालेख में ३ बार मिलता है—कतुं (कर्तुम्) ९१.१३, कारयितुं (कारयितुम्) ९१.९ और विपमुचितुं (विप्रमोक्तुम्) ९१.८ ।

८. वही म.जै.वि.संस्करण

९. वही, के. आर चन्द्रा

प्रवचनसार में हेत्वर्थ कृदन्त के लिए - दुं प्रत्यय ही मिलता है और वह भी मात्र एक ही प्रयोग है - देदुं २.४८ ।

-तुं प्रत्यय का जो - दुं रूप है वह परवर्ती काल का है क्योंकि भाषिक दृष्टि से मध्यवर्ती व्यंजन -त- का -द- में परिवर्तन परवर्ती काल की प्रवृत्ति मानी जाती है, इसलिए प्रवचनसार की भाषा आचारांग से परवर्ती काल की ठहरती है।

(ग) संबन्धक भूतकृदन्त के प्रत्यय

संबन्धक भूतकृदन्त के लिए आचारांग[१०] में -त्ता प्रत्यय मिलता है, जैसे कि—विदित्ता (विदित्वा) ४०, निज्झाइत्ता (निध्याय) ४९ और -च्चा,-त्तु आदि प्रत्यय भी मिलते हैं, जैसे कि—अभिसमेच्चा (अभिसमेत्य)२२, नच्चा(ज्ञात्वा) ५६, विजहित्तु (विजहाय) २० । खारवेल के शिलालेख में -त्ता प्रत्यय ही मिलता है, जैसे कि—घातापयिता(त्ता) (घातयित्वा) ९१.८, अचितयिता(त्ता) (अचिन्त्य) ९१.४ । प्रवचनसार में -च्चा और -त्ता इन दो प्रत्ययों के सिवाय -दूण भी मिलता है, जैसे कि—सुणिदूण (श्रुत्वा) १.६२ और यह प्रत्यय -त्वान→तून में से विकसित परवर्ती काल का -दूण प्रत्यय है। महाराष्ट्री का जो -ऊण प्रत्यय है उसकी ही (विकास क्रम में) पूर्व अवस्था -दूण है ।

यह -दूण प्रत्यय आचारांग और खारवेल के शिलालेख में नहीं मिलता है । इससे स्पष्ट है कि -दूण प्रत्ययवाली प्रवचनसार की भाषा आचारांग और खारवेल के शिलालेख की भाषा से परवर्ती काल की है ।

(३) दन्त्य व्यंजन न = मूर्धन्य ण

आचारांग के अद्यावधि संस्करणों में दन्त्य नकार का जो मूर्धन्य णकार किया गया है वह प्राकृत भाषाओं के क्रमशः विकास की दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत के लिए उपयुक्त नहीं लगता है ऐसा डॉ. चंद्रा साहेब ने अपने अध्ययन के दरम्यान अपनी पुस्तक[११] में स्पष्ट कर दिया है। अतः जहाँ पर भी दन्त्य नकार चाहे वह प्रारंभ में हो या मध्य में हो वह यथावत् रहेगा । खारवेल के शिलालेख

---

१०. वही, के. आर चन्द्रा

११. परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी, डॉ. के. आर चन्द्रा, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९५.

में दन्त्य नकार का मूर्धन्य णकार में परिवर्तन सामान्यतः नहीं मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार अशोक के शिलालेखों में सामान्यतः दन्त्य नकार का मूर्धन्य णकार नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार खारवेल के शिलालेख में भी ऐसी ही अवस्था पायी जाती है। काल और स्थल की दृष्टि से भी आचारांग में दन्त्य नकार का मूर्धन्य णकार में नहीं बदला जाना उपयुक्त ही लगता है। हेमचन्द्राचार्य ने दन्त्य नकार के बारे में प्रारंभिक दन्त्य नकार को णकार में बदलने का वैकल्पिक नियम दिया है। यह नियम (नो णः। सूत्र नं. ८.१.२२४) अर्धमागधी भाषा पर लागू नहीं होता है। मध्यवर्ती नकार के लिए उन्होंने जो यह कहा है कि आर्ष भाषा में अर्थात् आगमों की भाषा में कभी कभी दन्त्य नकार यथावत् मिलता है, यह नियम भी जहाँ तक अर्धमागधी का प्रश्न है उस पर यथार्थतः लागू नहीं होता क्योंकि वह पूर्व भारत की भाषा थी और अशोक के पूर्व भारत के शिलालेखों की भाषा के जो उत्कीर्ण प्रमाण मिलते हैं उनमें दन्त्य नकार का मूर्धन्य णकार में परिवर्तन नहीं पाया जाता है[१२]। खारवेल के शिलालेख में दन्त्य नकार का णकार अपवाद के रूप में १ बार मिलता है, जैसे कि—लूठण (लुण्ठन) जब कि नकार का नकार शब्द के प्रारंभ में १२ बार जैसे कि—नमो ९१.१, निवेसितं ९१.११ नगरं ९१.६ और मध्यवर्ती नकार १०२ बार मिलता है, जैसे कि—राजानं ९१.१२, वाहने ९१.८, सेना ९१.७, रतन ९१.१३ आदि। इनकी तुलना में प्रवचनसार में सर्वत्र (प्रारंभिक और मध्यवर्ती) नकार का मूर्धन्य णकार ही मिलता है।

इस विश्लेषण के आधार से हम कह सकते हैं कि आचारांग की अर्धमागधी भाषा और खारवेल के शिलालेख की भाषा में बहुत कुछ सादृश्यता है, जबकि प्रवचनसार की शौरसेनी प्राकृत अनेक तरह से इन दोनों से परवर्ती काल की भाषा साबित होती है।

---

१२. पालि भाषा में भी दन्त्य नकार का णकार नहीं पाया जाता है जो भ. महावीर के काल के ही भगवान बुद्ध की भाषा थी।

तीर्थंकरों की उपदेश-भाषा

—डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

समवसरण स्थित तीर्थंकर उपदेश देते समय किस भाषा में उपदेश देते थे ? यह एक विवाद का विषय बना है। यद्यपि यह सत्य है कि श्रमण परम्परा में कभी भी शब्द को प्राधान्य नहीं दिया गया है, अर्थ को ही प्राधान्य दिया गया है, इसीलिए जैनागमों में भाषा का प्रभुत्व गौण रहा है। जैनशास्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि चित्रविचित्र भाषाएँ मनुष्य की चित्तशुद्धि व आत्मविकास का निर्माण नहीं करती। जीवन की शुद्धि का निर्माण तो सद् विचारों द्वारा ही होता है। भाषा तो विचारों का केवल वाहन अर्थात् माध्यम है। अतः माध्यम के अतिरिक्त भाषा का कोई मूल्य नहीं। तथापि समवसरण स्थित परमात्मा की भाषा एवं आगम की भाषा के विषय में उपस्थित चर्चा के लिए श्रमण परम्परा के उपलब्ध शास्त्रों का अवलोकन आवश्यक है।

श्रमण परम्परा की दो प्रमुख धाराएँ (१) श्वेताम्बर और (२) दिगम्बर अस्तित्व में हैं। दोनों धाराओं में प्रस्तुत विषय को लेकर वैषम्य है। श्वेताम्बर परम्परा में तो यह माना गया है कि तीर्थंकर परमात्मा समवसरण में उपदेश देते समय अक्षरात्मक भाषा का उपयोग करते हैं। **औपपातिकसूत्र** (सूत्र-३४) में उल्लेख मिलता है कि अर्हन् अर्धमागधी भाषा में धर्म का उपदेश देते हैं। श्रमण भगवान् महावीर (मगध के राजा) बिंबिसार श्रेणिक के पुत्र कूणिक को अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। श्यामाचार्य के **प्रज्ञापनासूत्र** में आर्यों के नौ प्रकार बताए गये हैं। उसमें भाषाएँ किसको कहते हैं इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जो अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं और जहाँ ब्राह्मीलिपि प्रवृत्त है वे भाषाएँ है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में तीर्थंकर फरमाते हैं कि हे गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं। इस प्रकार अर्धमागधी भाषा के कई उल्लेख श्वेताम्बर परंपरा में उपलब्ध आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। अतः श्वेताम्बर परम्परा में तो यह स्पष्ट है कि अर्हन्, जिन, तीर्थंकर, गणधर एवं परम्परा में हुए आचार्य अर्धमागधी भाषा के माध्यम से अपने हृदय के भावों को प्रगट करते हैं। यही अर्धमागधी 'आर्ष प्राकृत' के

नाम से भी प्रसिद्ध है ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकरों की वाणी को 'दिव्यध्वनि' कहा गया है । दिव्यध्वनि अर्थात् अलौकिक आवाज । भगवान के मुख-कमल से निकलनेवाली इस ध्वनि की दिव्यता यह होती है कि यद्यपि यह ध्वनि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसका परिणमन सर्वभाषारूप होता है । समवसरण में उपस्थित सभी प्राणी उसका अभिप्राय अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं । इस कारण उसे सर्वभाषारूप कहा गया है । किन्तु इसको स्वीकार करने पर अनेक प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं जैसे कि –

(१) दिव्यध्वनि का स्वरूप क्या है ?

(२) दिव्यध्वनि मुख से होती है ?

(३) मुख से नहीं होती है ?

(४) भाषात्मक होती है ?

(५) भाषात्मक नहीं होती है ? आदि ।

दिव्यध्वनि के लिए कहा गया है कि केवलज्ञान होने के पश्चात् अर्हत् भगवान् के सर्वांग से एक विचित्र गर्जनारूप ॐकार ध्वनि खिरती है जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं । भगवान् की इच्छा न होते हुए भी भव्यजीवों के पुण्य से वह सहज खिरती है । परंतु गणधर देव की अनुपस्थिति में नहीं खिरती है ।

प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने पर एक बहुत बड़ी आपत्ति आने की संभावना है जिसे टाला नहीं जा सकता । वह यह कि तीर्थंकर के सर्वांग से निकलनेवाली दिव्यध्वनि गणधर की अनुपस्थिति में नहीं खिरती तो दिव्यध्वनि कभी भी नहीं खिरेगी । क्योंकि जब तक समवसरण में तीर्थंकर उपदेश नहीं देंगे तब तक कोई प्रतिबोधित नहीं होगा और प्रतिबोध के अभाव में गणधर की उपस्थिति ही नहीं होगी और गणधर के अभाव में दिव्यध्वनि का अभाव होगा। अंततोगत्वा तीर्थंकर परमात्मा को आजीवन मौन धारण करना पड़ेगा जो इष्ट नहीं है । अतः यह मानना होगा कि दिव्यध्वनि यह भगवान् का एक अतिशय है और वह भव्यजीवों के पुण्य से निकलने लगती है ।

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन ने **हरिवंशपुराण** (ईस्वी सन् ७८४) में दिव्यध्वनि का स्वरूप बताते हुए कहा है कि गणधर के प्रश्न करने पर भगवान् की दिव्यध्वनि खिरने लगती है। भगवान् की वह दिव्यध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती थी। चार पुरुषार्थरूप चार फलों को देनेवाली थी, सार्थक थी, चार वर्णों और चार आश्रमों को आश्रय देनेवाली थी, चारों और सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोग की माता थी। आक्षेपिणी-विक्षेपिणी-संवेगिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं का वर्णन करनेवाली थी। चारों और एक-एक योजन तक स्पष्ट सुनाई देती थी। इसके बाद जिनसेनाचार्य स्पष्ट कहते हैं कि दिव्यध्वनि स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्यरूप थी, एक थी और अत्यंत निष्कलंक थी।

इसी प्रकार पंचस्तूपान्वयी भगवज्जिनसेनाचार्य ने **आदिपुराण** (लगभग ईस्वी सन् ८३७) में दिव्यध्वनि का स्वरूप विस्तारपूर्वक बताया है। कहा गया है कि भगवान् के मुख से बादलों की गर्जना का अनुकरण करनेवाली अतिशय युक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवों के मन में स्थित मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। आचार्यश्री ने दिव्यध्वनि का वर्णन विस्तार से किया है। अन्त में वे स्वयं कहते हैं कि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा मानने पर वह भगवान् का गुण नहीं कहलाएगा, देवकृत होने से देवों का कहलाएगा। इसके सिवाय यह दिव्यध्वनि अक्षररूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता है (पर्व २३/३९-७३)। वीरसेन के **धवला** (ईस्वी सन् ८१५) में दिव्यध्वनि की चर्चा करते हुए प्रश्न उठाया गया है कि तीर्थंकर के वचन अनक्षर रूप होने के कारण ध्वनिरूप हैं और इसलिए वे एकरूप हैं और एकरूप होने के कारण ध्वनिरूप है, सत्य और अनुभव इस दो प्रकार के नहीं हो सकते। इसके उत्तर में धवलाकार स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि यह बात सच नहीं है क्योंकि केवली के वचन में स्यात् इत्यादि रूप से अनुभवरूप वचन का सद्भाव पाया जाता है, इसलिए केवली की ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है। अर्थात् केवली की दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है।

आदिपुराण में भी कहा गया है कि दिव्यध्वनि अक्षररूप ही है, क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता है (पर्व २४/८१-८४)। इसी ग्रन्थ में एक जगह कहा गया है कि भरत ने कुछ पूछा और उसको भगवान् ऋषभदेव बिना किसी कष्ट के क्रमपूर्वक कहने लगे। अतः यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही होती थी।

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि अक्षरात्मक होती थी तो वे अक्षर किस भाषा में होते थे यह प्रश्न सहज ही उठता है। यहाँ हमें इसका उत्तर **हरिवंशपुराण** में प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि दिव्यध्वनि दो प्रकार की होती है। एक दिव्यध्वनि-रूप और दूसरी सर्वमागधी भाषा-रूप। उनमें से प्रथम दिव्यध्वनि अष्ट प्रतिहार्यों में समाविष्ट होती है और दूसरी सर्वमागधी भाषा को देवकृत अतिशयों में गिनाया है। अर्थात् तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मगध की सभी लोकभाषाओं की विशेषताओं वाली थी। कुन्दकुन्दाचार्य के माने जाने वाले दंसणपाहुड की टीका करते हुए आचार्य श्रुतसागर ने भी कहा है कि तीर्थंकर की भाषा अर्धमगध देश की भाषा-रूप अर्थात् अर्धमागधी-रूप और आधी सर्वभाषा-रूप होती है (दर्शन प्राभृतम्, श्रुतसागरसूरी टीका, गाथा-३५)। यहाँ एक बात विशेष ध्यान खींचनेवाली है वह यह कि सभी तीर्थंकरों की वाणी की बात कही गई है। कोई एक तीर्थंकर के वचन की बात नहीं कही गई है। धवलाकार एक महत्त्वपूर्ण चर्चा करते हुए कहते हैं कि वचन के बिना अर्थ का व्याख्यान सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थों की संज्ञा अर्थात् संकेत द्वारा प्ररूपणा नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थ की प्ररूपणा हो सकती है, सो भी योग्य नहीं है, क्योंकि अनक्षर भाषा-युक्त तिर्यंचों को छोड़कर अन्य जीवों को उससे अर्थज्ञान नहीं हो सकता है और दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक ही हो वह भी बात नहीं है, क्योंकि वह अठारह भाषा तथा सातसौ कुभाषा-स्वरूप है। प्रस्तुत चर्चा का समापन करते हुए कहते हैं कि अठारह भाषा व सातसौ भाषा-स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदों का प्ररूपक अर्थकर्ता है, तथा बीजपदों में भगवंत हैं (धवला १/४. १.४४ /१२६/५) अतः यह स्पष्ट होता है कि दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक न होकर अक्षरात्मक ही होती है।

निर्ग्रन्थ दर्शन के महापंडित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ **जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका** (पृ. २७१) में स्पष्ट कहा है कि भगवान् महावीर के उपदेशों के माध्यम की भाषा अर्धमागधी थी । इस भाषा की यह विशेषता थी कि सब श्रोता इसका अभिप्राय अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते थे । इसी अर्धमागधी भाषा के उपदेश को दिगम्बर परम्परा में दिव्यध्वनि रूप कहा गया है । अतः श्वेतांबर और दिगम्बर परम्परा में समान अवधारणा होते हुए भी विवाद खड़ा किया जा रहा है वह बेबुनियाद ही है ।

મૌર્ય સમ્રાટ્ અશોકના અભિલેખોની ભાષા સાથે અર્ધમાગધી પ્રાકૃતનું સાદૃશ્ય

–ડૉ. ભારતી શેલત[+]

મૌર્ય સમ્રાટ્ અશોક (ઈ.પૂ. ૨૭૩-૨૩૨) ના અભિલેખો એના વિસ્તૃત સામ્રાજ્યના વિભિન્ન ભાગોમાં ઉપલબ્ધ થાય છે. આ અભિલેખોમાં એના ૧૪ શૈલલેખો, લઘુ શિલાલેખો, ગુફાલેખો અને સ્તંભલેખોનો સમાવેશ થાય છે. પશ્ચિમોત્તરમાં શાહબાઝગઢી (જિ. પેશાવર) અને માનસેહરા (જિ. હજારા)થી માંડી પૂર્વ દક્ષિણમાં ધૌલી (જિ. પુરી) અને જૌગડ (જિ. ગંજામ, ઓરિસ્સા), ઉત્તરમાં કાલસી (જિ. દેહરાદૂન)થી માંડી દક્ષિણમાં જટિંગ રામેશ્વર (મૈસુરનો ચિતલદુર્ગ જિલ્લો) તથા એર્રગુડિ (જિ. કુર્નૂલ, આંધ્ર) સુધીના પ્રદેશોમાં અશોકના અભિલેખો ઉપલબ્ધ થાય છે. આ મહાન રાજવીના ઉદાત્ત ધર્મ-અધિશીલન અને ધર્માનુશાસનનો તાદૃશ અને પ્રમાણિત પરિચય આ અભિલેખો કરાવે છે. એના અભિલેખોની લિપિ બ્રાહ્મી, ખરોષ્ઠી અને અરમાઈક છે.

પ્રાચીન આગમ ગ્રંથોની ભાષામાં અશોકના સમયની ભાષાનાં ઘણાં તત્ત્વ જોવા મળે છે, જેમાં કોઈ પરિવર્તન થયેલું નથી.

(અ) અર્ધમાગધી ભાષામાં અશોકના સમયની ભાષાનાં લક્ષણ :

૧. यथा માટે अहा અને यावत् માટે आव નો પ્રયોગ

આચારાંગ (1.9.1.254) - अहासुतं (यथाश्रुतम्). અર્ધમાગધી આગમ-ગ્રંથોમાં આવાં ઘણાં ઉદાહરણ મળે છે. પિશેલે પોતાના વ્યાકરણમાં દૃષ્ટાંતો આગમ ગ્રંથોમાંથી પ્રસ્તુત કર્યા છે.[૧]

આચારાંગ : अहाकप्पं, अहाणुपुव्वीए ,

अहासुयं, अहातिरित्त વગેરે.

સૂત્રકૃતાંગ : अहाकम्माणि, आवकहा

સ્થાનાંગ : आवकहाए

જ્ઞાતાધર્મકથા, ઉપાસકદશા, કલ્પસૂત્ર : अहाकप्पं, अहामग्गं, अहासुत्तं.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર – अहाकम्मेहिं

પ્રો. મેહેંદલેના મતે અશોકના શિલાલેખોની પૂર્વી પ્રદેશની નકલમાં આરંભિક

+ નિયામક, ભો. જે. વિદ્યાભવન, અમદાવાદ

य નો अ કરવાનું વલણ જોવા મળે છે.[२] अथा (यथा) - ધૌલી, જૌગડ, કાલસી શૈલલેખ નં.૨

आव, आवा (यावत्)

अवकपं - શાહબાઝગઢી, માનસેહરા } શૈલલેખ નં.
आवकपं - ગિરનાર, કાલસી } ૪, પં. ૯

૨. 'मति' શબ્દ માટે 'मुति'નો પ્રયોગ.

આચારાંગમાં (1.1.1.2) सहसम्मुइयाए

પાલિ સુત્તનિપાતમાં मुत, मुति અને सम्मुति શબ્દ મળે છે.

અશોકના શિલાલેખોમાં પણ આવો પ્રયોગ મળે છે.

वेदनीयमुते અને गुलुमुते (કાલસી, નં. ૧૩.૩૬)

मुखमुते विजये - શાહબાઝગઢી, માનસેહરા, ૧૩.૩૬

कटवियमुते (कर्तव्यमतं)-કાલસી, ૬.૧૯

मुख्यमुते - લૌરિયા અરરાજ સ્તંભલેખ, ૬.૫

मोख्यमुते - લૌરિયાનંદનગઢ સ્તંભલેખ, ૬.૫

ઉપર્યુક્ત દૃષ્ટાંતોથી માલૂમ પડે છે કે લોકભાષામાં मतः માટે मुते પ્રચલિત હતું. આથી પાલિ, પ્રાચીન પ્રાકૃત અર્થાત્ અર્ધમાગધીમાં આ પ્રયોગ થતો હતો.

૩. ચતુર્થી એકવચન વિભક્તિ - आये = आए

અર્ધમાગધીમાં અકારાન્ત શબ્દો માટે ચતુર્થી એકવચનની आए વિભક્તિ પ્રચલિત છે.

ઉદા. तं से अहिताए - (આચારાંગ, ૧.૧.૨.૧૩). આ વિભક્તિનું રૂપ आये અશોકના અભિલેખોમાં મળે છે.

उदा. इमाये अठाये- ધૌલી, ૫.૭[૩]

इमाये धंमानुसाथिये - ધૌલી - ૩.૨

મધ્ય-પશ્ચિમ અને દક્ષિણ ક્ષેત્રોમાં આ વિભક્તિનો પ્રત્યય आये કે आए મળતાં નથી. પછીના સમયમાં ઉત્તર-પશ્ચિમમાં आए રૂપ મળે છે. आय રૂપ પણ ઉત્તરકાલીન છે.

૪. વર્તમાન કૃદંતના પ્રત્યય -मानને સ્થાને -मीन નો પ્રયોગ.

આગમ ગ્રંથોમાં વર્તમાનકૃદંત -मान માટે ક્યારેક -मीन પ્રયોગ મળે છે. घायमीण, समणुजाणमीण, अपरिग्गहमीण, अभिवायमीण (આચારાંગ, શુબ્રિંગ),

विकासमीण (સૂત્રકૃતાંગ), आरंभमीणा विणयं वदंति (આચા.સૂત્ર ૬૨ પુણ્યવિ. સંશોધિત ચૂર્ણિ પાઠ, પૃ.૪૧.૭).

અશોકના શિલાલેખોમાં -मीन શબ્દ પ્રયોજાયો છે. संपटिपजमीन ધૌલી, પૃથક્ ૧.૧૬; જૌગડ પૃથક્ ૧.૮

विपटिपादयमीने - ધૌલી, પૃથક્, ૧.૧૫

पकममीनेन (प्रक्रममाणेन)-સહસરામ લઘુ શિલાલેખ, પં. ३

पायमीन - દેહલી ટોપરા સ્તંભલેખ, પં. ૫

पकममीनेन - રૂપનાથ, પં. ૩, વૈરાટ, પં. ૫, એર્રગુડિ, પં. ૮

पकममीण - બ્રહ્મગિરિ, પં.૫

પ્રો. મેહેંદલેના મતે અશોકના સમય પછી આ -मीन પ્રત્યય મળતો નથી. આથી પ્રમાણિત થાય છે કે આ પ્રત્યયનો પ્રયોગ થયો છે તેવા અર્ધમાગધી સાહિત્યના અંશ નિશ્ચિત રીતે અશોકના સમય જેટલા પ્રાચીન છે.[૪]

૫. સંબંધક ભૂતકૃદંતનો પ્રત્યય 'त्तु' (इत्तु)

ગાઈગરના અભિપ્રાય મુજબ પાલિ ભાષામાં સંબંધક ભૂતકૃદંતના -त्वा, त्वान, तून, च्च, य, य्य, इय અને यान પ્રત્યય મળે છે. આ બધા પ્રત્યય અર્ધમાગધીમાં મળે છે,[૫] ઉપરાંત -त्तु(इत्तु) પ્રત્યય પણ મળે છે જે પાલિમાં નથી.

ઉદા. जाणित्तु (આચારાંગ), चइत्तु ((ઉત્તરાધ્યયન), पमज्जित्तु (દશવૈકાલિક), वंदित्तु (કલ્પસૂત્ર) વગેરે

આ પ્રત્યય અશોકના અભિલેખોમાં પણ મળે છે. ઉદા. जानितु(=त्तु), ધૌલી, પૃથક્, ૧.૨૨

दसयितु(=त्तु) -કાલસી, ૪.૨ श्रुतु(=त्तु)-માનસેહરા, ૧૩.૧૧; શાહબાઝગઢી, ૧૩.૧૦

सुतु(=त्तु) - कालसी દક્ષિણાભિમુખ, ૧૩.૧૧

ઉપર્યુક્ત પાંચે ભાષાકીય વિશેષતાઓ પ્રારંભિક य=अ, मति=मुति, ચતુર્થી એકવચનની વિભક્તિ -आए, -आये, વર્તમાનકૃદંત -मीन=मान અને સંબંધક ભૂતકૃદંતનો પ્રત્યય -त्तु(इत्तु) અશોકના અભિલેખોમાં જોવા મળે છે.

(આ) અર્ધમાગધી ભાષામાં ભારતના પૂર્વ ક્ષેત્ર (અશોકના સમયની) ભાષાનાં લક્ષણ :

૧. र = ल

અર્ધમાગધી ભાષાના આગમ ગ્રંથોમાં रकार ના સ્થાને लकार ના પ્રયોગ મળે છે.

ઉદા. लाढ (આચારાંગ પ્રથમ શ્રુતસ્કંધ - 294,295,298,300), लुक्ख (176) लूह (99,161,198,295,300), एलिस (177), पलिछिंदिय (145) पलिमोक्ख (151) ઇત્યાદિ.

ઇસિભાસિયાઇં - अन्तलिक्ख, 10, पृ. 23.5; पलिछण्णो, 45.45; વ્યવહારસૂત્ર - अपलिछण्ण, બૃહત્કલ્પસૂત્ર - पलिछन्न વગેરે.

ડૉ. પિશેલના મતે અર્ધમાગધીમાં र ને સ્થાને ल નો પ્રયોગ અધિક માત્રામાં મળે છે.[६] अन्तलिक्ख, (આચારાંગ, ઉત્તરાધ્યયન, દશવૈકાલિક) परियाल, पलियन्त, रुइल વગેરે.

અશોકના પૂર્વ ભાગના અભિલેખોમાં रकार ના સ્થાને लकार પ્રયોજાયેલ છે.

ઉદા. रज्जुक-लजुक - કાલસી, ૩.૭
ધૌલી, ૩.૭ લૌરિયા
અરરાજ સ્તંભલેખ, ૪.૧,૨,૪
લૌરિયાનંદનગઢ સ્તંભલેખ ૪.૨,૪,૫

लाजा - જૌગડ*, દિલ્હી ટોપરા સ્તંભલેખ, ૭.૧૧, ૧૪, ૧૯, ૨૩, ૨૬, ૨૮, ૨૯

लजिना - कालसी, १४.१९

लठिक (राष्ट्रीक), ધૌલી, ૫.૪

लाजा - પ્રયાગ કોસમ સ્તંભલેખ, ૧.૧; ૨.૧; ૩.૧; ૫.૧; કલકત્તા વૈરાટ લઘુશિલા અભિલેખ, ૧.૧

૨. અઘોષ क નું ઘોષ ग માં પરિવર્તન

અર્ધમાગધીમાં क નું ग માં પરિવર્તન અધિક પ્રમાણમાં મળે છે. પિશેલના (૨૦૨) મતે આ ભાષાના પ્રભાવ હેઠળ જૈન શૌરસેની અને જૈન મહારાષ્ટ્રીમાં પણ આ પ્રવૃત્તિ ચાલુ રહી હોવાનું જણાય છે.

અર્ધમાગધીનાં ઉદા.

★ જૌગડ ૧.૨, ૩.૧, ૬.૧, ૭.૧, ૯.૧, પૃથક્ લેખ ૨.૫, ૬.૧૦; કાલસી, ૧.૨, ૩.૬, ૫.૧૩, ૬.૧૭, ૭.૨૧, ૮.૨૨, ૯.૨૪, ૧૦.૨૮,૧૧.૨૯, ૧૨.૩૧, ધૌલી, ૩.૧, ૪.૫, ૫.૧, ૬.૧, ૭.૧, ૮.૨, ૯.૧, ૧૦.૧

लोग, असोग, आगास, एगमेग, सिलोगगामी, फलग વગેરે

અશોકના અભિલેખોનાં ઉદા.

लोग – જૌગડ, પૃથક્ લેખ, ૨.૭

हिदलोगं पललोगं – જૌગડ, પૃથક્, ૨.૭

हिदलोगिक – જૌગડ, પૃથક્ લેખ, ૨.૪, ૧૨.૧૩

अधिगिच्य (अधिकृत्य) – કલકત્તા વૈરાટ, પં. ૬

૩. सामंत શબ્દનો समीप ના અર્થમાં પ્રયોગ.

અર્ધમાગધી આગમ સાહિત્યના અંગ ગ્રંથોમાં अदूरसामंते શબ્દપ્રયોગ ઘણીવાર જોવા મળે છે.[૭]

नायाधम्मकहाओ★ અ. ૬માં इंदभूई नामं अणगारे अदूरसामंते जाव...

અશોકના અભિલેખોનાં ઉદા.

अंतियोकस सामंता लाजाने[नो] ધૌલી, જૌગડ, ૨.૨

अंतियोगसा सामंता लाजानो - કાલસી, ૨.૫

अंतियोकस समंत रजनो (શાહબાઝગઢી, ૨.૬)

..... गस समंत रजने (માનસેહરા, ૨.૬)

ગિરનારના versionમાં सामीपं શબ્દ છે. અર્ધમાગધી સાહિત્યમાં सामंत શબ્દ 'સમીપ'ના અર્થમાં પ્રયોજાયો છે. આ સામંત શબ્દ અશોકના અભિલેખોમાંના જે પ્રદેશની નકલમાં પ્રયુક્ત થયો છે ત્યાંથી એ અર્ધમાગધી ભાષામાં આવ્યો હોવાનું જણાય છે. પાલિ સાહિત્યમાં પણ સામન્ત શબ્દ સમીપના અર્થમાં વપરાયો છે.

૪. यकार યુક્ત સંયુક્ત વ્યંજનોમાં સ્વરભક્તિ

અર્ધમાગધીમાં સંયુક્ત વ્યંજનોમાં જ્યાં બીજો વ્યંજન य હોય ત્યાં સમીકરણને બદલે સ્વરભક્તિનું વલણ વધુ જોવા મળે છે; જેમ કે (आगमशब्दकोश પ્રમાણે)

अणितिय (अनित्य)–આચારાંગ १.५.२९, नाया. १.१.१०७; १०९ ; १.१८.४८, ६१, सूत्रकृ. १.८.१२; अंत. ३.६९,७६

★ नायाधम्मकहाओ, 'आगमशब्दकोश', भाग १ પ્રમાણે १.१.६, २५, १७५, १७६; १.२.४,६; १.३.९; १.४.५; १.५.४; १.६.३; १.१२.११; १.१३.१५; १.१४.९, १०, ७८; १.१५.१२; १.१६.१५, १७,४१,१०६,१०८,१४७; १.१८.१८, ३५
उवासग. १.४, ७२, ७९; अंत, ३.८९; ६.१४, ३९, ४०, ५७, ७८, ७९, ८७
आगमशब्दकोश, भाग-१ પ્રમાણે.

तहिय(तथ्य)-नाया. १.१२.१९, २९, ३१, ३२. उवा. १.७८, ७९; ७.५१; ८, ४६, ४९

उत्तरा.- २८.१४

वेयावडिय (वैय्यावृत्य) आ. ८.१, २, २८, २९, ७६, १२०, १२१; सू. २.२.७७; ठा. ५.१६६; ७.८१; नाया १.१.२०७; १.५.११९.

कारिय (कार्य)- इसिभासियाइं - ११.३

પાલિ સૂત્તનિપાતમાં तथिय (तथ्य) ५७.५.६; मच्छरिय (मात्सर्य) - ४९.२ વગેરે ઉદા. મળે છે.

આલ્સડૉર્ફના મતે અશોકના અભિલેખોની પૂર્વની વાચનામાં આ સ્વરભક્તિ જોવા મળે છે. [૮]

सकिय (शक्य) - जौगड ९.६

सक - ગિરનાર ૯.૮; १३.६

सक्य. બ્રહ્મગિરિ - ૪.૫; સિદ્ધાપુર - પં. १० इभिय (इभ्य) - જૌગડ, ૫.૫;

[પણ इभ्य - માનસેહરામાં, ૫.૨૩]

इभेसु - કાલસી, ૫.૧૫; इभेषु - શાહબાઝગઢી, ૫.૧૨; वियंजन; (व्यञ्जन) ધૌલી, ૩.૩; જૌગડ, ૩.૪; કાલસી, ૩.૮; માનસેહરા ૩.૧૧

[પણ व्यंजन - ગિરનારમાં ૩.૬]

वियापटे - ધૌલી, ૫.૫; वियपट - શાહબાજગઢી, ૫.૧૩; वियपुट - માનસેહરા, ૫.૨૩; वियपट्य - कालसी, ५.१५

૫. અર્ધમાગધીમાં શબ્દના વિભક્તિયુક્ત અંતિમ -अः ને સ્થાને -ए નો પ્રયોગ.

અકારાન્ત પુલ્લિંગ પ્રથમા એકવચન માટે ए વિભક્તિ પ્રત્યય જોવા મળે છે. આ વિભક્તિ સિવાય બીજા રૂપોમાં પણ જેના અંતમાં अः હોય ત્યાં પણ अः ને બદલે ए જોવા મળે છે.

(અ) पुरस् = पुरे-આચારાંગ ૧,૪.૪,૧૪૫, આ.ચૂ. ૧.૨૯, ૩૨,૪૨,૪૩

पुरेकड (पुरः कृत) आ.चू., १६.८; सू. १.५.२८; १.१५.८; पण्हा. १,२९; ३.२४

पुरेकम्म (पुरःकर्मन्), पण्हा. १०.७

पुरेक्खड (पुरस्कृत), भग. १२.८४, ८५, ८७, ८८, ९०, ९२-९६

(આ.) अधस् - अधे, अहे

उड्ढं अधे य तिरियं च पेहमाणे-आचा० १.९.४.३२०; अधे दिसातो वा आगतो - आचा., १.१.१.१; कायं अहे वि दंसेंति-सूत्रकृ., १.४.१.३

(ઇ) बहवः - बहवे - आचा., १.९.३. २९५, २९७, ३०२

(ઈ) नामतः (नामते) जहा णामते अगणिकाए सिया- ઇસિભાસિયાઇં-૨૨, પૃ. ૪૩.૫.

नः = ने णे (परिदेवमाणा मा णे चयाहि इति ते वदंति - आचा. १.६.१.१८२

અશોકના અભિલેખોનાં ઉદા.

लाजिने - राज्ञः કાલસી ૧.૨.૩; ૨.૪.૫; ૪.૯.૧૦,૧૧; ૮.૨૩; ૧૩.૩૫.

ધૌલી - ૧.૩; ૪.૨,૩,૫,૮; ૮.૩; પૃથક્, ૧.૨૬, જૌગડ - ૧.૩; ૨.૧; ૪.૨, ૬; ૮.૪; પૃથક્, ૨.૧૧

अतने, अत्तने (आत्मनः) - જૌગડ, પૃથક્, ૧.૧૨, ધૌલી, પૃથક્ ૧.૨૫

पियदसिने - ધૌલી - ૧.૩; ૨.૧; ૪.૨,૩; ૫.૮; ૮.૩, જૌગડ - ૧.૩; ૨.૧; ૪.૨.૬; ૮.૪, કાલસી - ૪.૯, ૧૦,૧૧

ગિરનાર, શાહબાઝગઢીમાં राजानो, राञो અને प्रियदसिनो મળે છે એટલે પૂર્વ ભારતની અશોકના લેખોની વાચનામાં જ अः ને સ્થાને ए પ્રયોજાયો છે.

૬. અર્ધમાગધીમાં अकस्मात् શબ્દનો પ્રયોગ : ધ્વનિ-પરિવર્તન રહિત अकस्मात् શબ્દનો પ્રયોગ પ્રાચીન આગમગ્રંથોમાં થયેલો છે.[૯]

एत्थ हि जाणह अकस्मात्-आचा. १.८.१.२००

અશોકના પૂર્વભાગના શિલાલેખોમાં अकस्मा શબ્દપ્રયોગ મળે છે; ધૌલી, પૃથક્ ૧.૧,૨૦,૨૧; જૌગડ, પૃથક્ ૧.૪,૫

આ પ્રયોગ અર્ધમાગધી ભાષાની પ્રાચીનતા અને સ્થળનિર્ણય માટે મહત્ત્વનો છે.

૭. कृ ધાતુનું સંબંધક ભૂતકૃદંત कट्टु

પિશેલના મતે कट्टुનો પ્રયોગ કે 'ट्टु' પ્રત્યયવાળા બીજા ધાતુઓનો પ્રયોગ અનેક આગમ ગ્રંથોમાં મળે છે.

कट्टु (कृत्वा), आ. ५.११; सू. १.३.४६; ठा., ३.३३७; भग. १.४४३; नाया., १.१.१७; उवा., १.४५, अंत., ३.३१

अवहट्टु (अपहृत्य) - आ.चू. १.८८; सू. १.४.१७; भग., १.४२७

आहट्टु (आहृत्य) आ. २.८७, ८.२१-२४, ७५,७७,११६-११९; ९.२.१२; आ. चू., १.१२; सू., २.१.६५; २.२.४९; सम., २१.१

समाहट्टु (समाहृत्य), सू., १.८.२७; १.१०.१५

साहट्टु (संहृत्य), आ. चू. ૩.૬; सू., ૧.૭.૨૧; ૧.૯.૧૯; भग. ३.४७; नाया., १.८.१५९; उवा., २.२६; अंत. ३.८८

અશોકના અભિલેખોનાં દૃષ્ટાંત :

कटु - ધૌલી, પૃથક્, ૨.૭

कटू - જૌગડ, પૃથક્ ૨.૯

આમ અર્ધમાગધી આગમ-ગ્રંથોની ભાષામાં ઉપર જણાવેલી વિશેષતાઓ જોવા મળે છે. તે વિશેષતાઓનું સાદૃશ્ય અશોકના અભિલેખોની ભાષા સાથે હોવાથી અર્ધમાગધી ભાષા પણ અશોકના સમય જેટલી પ્રાચીન હોવાનું જણાય છે, અને ખાસ કરીને આ બધી વિશેષતાઓનો સંબંધ અશોકના પૂર્વ ભાગના અભિલેખો સાથે જોવા મળે છે. આથી અર્ધમાગધીના પ્રાચીન ગ્રંથોનું રચનાસ્થળ પૂર્વ ભારત હોવાનું કહી શકાય.

પાદટીપ

1. R. Pischel, 'Comparative Grammar of the Prakrit Languages', Motilal Banarasidas, Varanasi, 1965, pp. 335, 404, 565
2. M. A. Mehendale, 'Historical Grammar of Inscriptional Prakrits', Poona, 1948, p. 13
3. Alfred C. Woolner, 'Asoka text and Glossary', Humphrey Milford, Oxford University Press, London, 1924, pp. xxiii f. Table of Typical Asokan Forms.
4. op. cit. Mehendale (p. xxvii and 267)
5. W.Geiger, 'Pali Literature and Language' (B. Ghosh-English), 1968, pp. 208 ff.
6. Pischel, R., *op. cit.*, para 257
7. 'आगमशब्दकोश', भाग १, युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूँ, १९८०, पृ. ५५
8. के. आर. चन्द्रा, 'प्राचीन अर्धमागधी की खोज में', प्रका. प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९१, पृ. ६२ 9. एजन, पृ. ६५

★ ★ ★

परिशिष्ट

APPENDIX

प्राकृत विद्या में प्रो. टाँटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान के विचारबिन्दुओं की समीक्षा

—प्रो. सागरमल जैन

डॉ. सुदीपजी ने **प्राकृत विद्या**, जुलाई–सितम्बर ९६ में डॉ. टाँटियाजी के व्याख्यान में उभर कर आये १४ विचारबिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करने का दावा किया है। यहाँ उनकी समीक्षा करना इसलिए अपेक्षित है कि उनके नाम पर प्रसारित भ्रान्तियों का निरसन हो सके★। नीचे हम क्रमशः एक-एक बिन्दु की समीक्षा करेंगे।

१. "प्राचीनकाल में शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी ?"

प्रथम तो उत्तर और दक्षिण के कुछ दिगम्बर विद्वानों के द्वारा शौरसेनी के ग्रन्थ लिखे जाने से अथवा कतिपय नाटकों में मागधी आदि अन्य प्राकृतों के साथ साथ शौरसेनी के प्रयोग होने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी। यदि इन तर्कों के अधार पर एक बार हम यह मान भी लें कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी, तो क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मागधी या महाराष्ट्री प्राकृत अखिल भारतीय भाषाएँ नहीं थीं ? प्राचीन काल में तो मागधी ही अखिल भारतीय भाषा थी। यदि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा बनी, तो वह भी मागधी के पश्चात् ही बनी है। क्योंकि अशोक के सम्पूर्ण अभिलेख मुख्यतः मागधी में ही है। यह सत्य है कि उन पर तद् तद् प्रदेशों की लोकबोलियों का प्रभाव देखा जाता है, फिर भी उससे मागधी के अखिल भारतीय भाषा होने में कोई कमी नहीं आती। वास्तविकता तो यह है कि मौर्यकाल और उसके पश्चात् जब तक सत्ता का केन्द्र पाटलिपुत्र बना रहा, तब तक मागधी ही अखिल भारतीय भाषा रही,क्योंकि वह भारतीय साम्राज्य की राजभाषा थी। जब भारत में कुषाण और शककाल में सत्ता का केन्द्र पटना से हटकर मथुरा बना, तब ही शौरसेनी को राजभाषा होने का पद मिला, यद्यपि यह भी संदेहास्पद ही है। क्योंकि ईसा. पू. प्रथम शती से ईसा. की दूसरी शती तक मथुरा में जो भी

★ वर्तमान में टाँटियाॅजी का स्वर्गवास हो जाने पर यह उनके नाम से प्रसारित इन भ्रान्तियों का निरसन और भी आवश्यक हो गया है।

अभिलेख मिलते हैं, वे भी मागधी से प्रभावित ही है। आज तक भारत में शुद्ध शौरसेनी में एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः केवल दिगम्बर आचार्यों द्वारा शौरसेनी में ग्रन्थ रचे जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह अखिल भारतीय भाषा है। क्या दिगम्बर परम्परा के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त कोई एक भी ग्रन्थ ऐसा है, जो पूरी तरह शौरसेनी में लिखा गया हो, जबकि अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में श्वेताम्बर धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, अतः मागधी एवं महाराष्ट्री प्राकृत को भी उसी रूप में अखिल भारतीय भाषा मानना होगा।

२. "शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव व लालित्यपूर्ण सिद्ध हुई।"

यह ठीक है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं में लालित्य और माधुर्य हैं किन्तु उस लालित्य और माधुर्य का सच्चा आस्वाद तो 'य'श्रुतिप्रधान महाराष्ट्री प्राकृत में ही मिलता है। केवल नाटकों के कुछ अंश छोडकर क्या शौरसेनी में निबद्ध एक भी लालित्यपूर्ण साहित्यिक कृति है ? इसकी अपेक्षा तो महाराष्ट्री प्राकृत में 'गाथासप्तशती' 'वसुदेवहिण्डी', 'पउमचरियं' 'वज्जालग्गं', 'समराइच्चकहा', 'धूर्ताख्यान' आदि अनेकों साहित्यिक कृतियाँ हैं, अतः यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा भी महाराष्ट्री अधिक लालित्यपूर्ण भाषा है। क्या उपरोक्त महाराष्ट्री के ग्रन्थों की कोटि का शौरसेनी में एक भी ग्रन्थ है ? पुनः जहाँ शौरसेनी में नाटकों के कुछ अंशों के अतिरिक्त मुख्यतः धार्मिक साहित्य ही रचा गया, वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में अनेक विधाओं के ग्रन्थ रचे गये और न केवल जैनों ने, अपितु जैनेतर लोगों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ लिखे हैं।

जहाँ तक माधुर्य का प्रश्न है 'द' कार-प्रधान और अघोष के घोष प्रयोग—होदि, आदि के कारण शौरसेनी में वह माधुर्य नहीं है जो मध्यवर्ती कठोर व्यंजनों के लोप, 'य'श्रुतिप्रधान मधुर व्यंजनों से युक्त महाराष्ट्री में है। शौरसेनी और पैशाची तो संस्कृत की अपेक्षा अधिक मधुर नहीं है। जो माधुर्य महाराष्ट्री में है वह संस्कृत और अन्य प्राकृतों में नहीं है। महाराष्ट्री में लोप की प्रवृत्ति अधिक होने से मुखसौकर्य भी अधिक है।

शौरसेनी प्राकृत का गौरव करना अच्छी बात है, लेकिन उसे ही अधिक सौष्ठवपूर्ण मानकर दूसरी प्राकृतों को उससे नीचा मानने की वृत्ति सत्यान्वेषी विद्वत

पुरुषों को शोभा नहीं देती है ।

३. ''बहुत सारी अच्छी बातें अर्धमागधी में नहीं हैं, जबकि शौरसेनी में सुरक्षित हैं, अनेक बातों का स्पष्टीकरण आज शौरसेनी के 'षट्खण्डागम' और 'धवला' से ही करना पडता है ।''

यह सत्य है कि जैन कर्म-सिद्धान्त की अनेक सूक्ष्म विवेचनाएँ षटखण्डागम एवं उसकी धवला टीका में सुरक्षित हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्धमागधी आगम साहित्य में अच्छी बातें नहीं हैं । शौरसेनी आगम-साहित्य की अपेक्षा अर्धमागधी आगम साहित्य परिमाण में पाँच गुने से अधिक है और उसमें भी अनेक अच्छी बातें निहित हैं । सम्पूर्ण अर्धमागधी और महाराष्ट्री का साहित्य तो शौरसेनी साहित्य की अपेक्षा दस गुने से भी अधिक होगा । अर्धमागधी आगम साहित्य में आचारांग का एक-एक सूक्त ऐसा है जो बिन्दु में सिन्धु को समाहित करता है, क्या उसके समकक्ष का कोई ग्रन्थ शौरसेनी में है ? आज आचारांग ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भगवान् महावीर के मूलवचन सुरक्षित हैं । यह सत्य है कि समयसार जो आत्म-अनात्म विवेक का और षट्खण्डागम तथा उसकी धवला टीका कर्म-सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्धमागधी आगम में सुरक्षित जिनवचनों के आधार पर ही दिगम्बर विद्वानों ने इन सिद्धान्तों का विकास किया हैं और वे उससे परवर्ती हैं । पुनः यदि जैन आचार-दर्शन एवं संस्कृति के विकास के इतिहास को समझना है तो हमें अर्धमागधी साहित्य का ही सहारा लेना होगा । वे उन नींव के पत्थरों के समान हैं, जिनपर जैन-दर्शन एवं संस्कृति का महल खडा हुआ है । नींव की उपेक्षा करके मात्र शिखर को देखने से हम जैन-धर्म और सिद्धान्तों के विकास के इतिहास को नहीं समझ सकते हैं । पुनः अर्धमागधी साहित्य में भी विशेषावश्यकभाष्य जैसे गम्भीर दार्शनिक चर्चा करने वाले अनेक ग्रन्थ हैं । पुनः बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य और निशीथभाष्य जैसे जैन-आचार के उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग की तलस्पर्शी विवेचना करने वाले तथा उसके विकास-क्रम को स्पष्ट करने वाले कितने ग्रन्थ शौरसेनी में हैं ? जिस धवला टीका का इतना गुणगान किया जा रहा है क्या उसकी भी इन ग्रन्थों से कोई तुलना की जा सकती है ? पुनः यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शौरसेनी में निबद्ध 'कसायपाहुड' एवं

'षट्खण्डागम' भी 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना','जीवसमास', आदि अर्धमागधी आगमों का ही विकसित एवं परिष्कारित रूप है क्योंकि ये ग्रन्थ उनसे पूर्ववर्ती हैं। इसी प्रकार धवला टीका, जो दसवीं शती की रचना है, वह भी निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों से अप्रभावित नहीं है। पुनः भाष्यों और चूर्णियों में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो शौरसेनी साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। मूलाचार और भगवती-आराधना जैसे शौरसेनी के ग्रन्थरत्न तो आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, आवश्यक निर्युक्ति आदि के आधार पर ही निर्मित है और उनकी सैकडों गाथाएँ भाषिक परिवर्तन के साथ इनमें उपलब्ध हैं। अतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री के ग्रन्थों में शौरसेनी की अपेक्षा अनेक गुणी अधिक अच्छी बातें हैं और उनके अभाव में जैन धर्म, दर्शन, संस्कृति और आचार के सम्यग् इतिहास को नहीं समझा जा सकता है।

४-५. "लाडनूँ का हमारा सारा परिवार कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते; दोनों भाषाओं का ज्ञान परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है अतः हमें (दिगम्बर, श्वेताम्बर) मिलजुल कर काम करना चाहिए।"

यह सत्य है कि किसी भी प्राचीन भाषा और उसके साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान के लिये उनकी समसामयिक भाषाओं तथा उनके साहित्य और परम्पराओं का ज्ञान अपेक्षित है और इस दृष्टि से आदरणीय टाँटियाजी का यह कथन कि हमारा लाडनूँ का सारा परिवार यह कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते वह उचित ही है। किन्तु शौरसेनी आगमों पर आधारित दिगम्बर परम्परा को भी यह नहीं भूलना चाहिए कि वे भी अर्धमागधी आगमों का सम्यग् अध्ययन किये बिना शौरसेनी आगमों के मूल हार्द को नहीं समझ सकते है। षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड के ९३ वें सूत्र में 'संजद' पद की उपस्थिति को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि षट्खण्डागम मूलतः उस यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है जो अर्धमागधी आगमों और उनमें प्रतिपादित स्त्री-मुक्ति को मानती थी। मूलाचार में 'पज्जुसणाकप्प' का सही अर्थ क्या है ? इसे श्वेताम्बर आगमों के ज्ञान के अभाव में वसुनन्दी जैसे समर्थ दिगम्बर टीकाकार भी नहीं समझ सके हैं। इसी प्रकार 'भगवती-आराधना'

के 'ठवणायरियो' शब्द का अर्थ पं. कैलाशचन्द्रजी जैसे दिगम्बर परम्परा के उद्भट विद्वान् भी नहीं समझ सके और उसे अस्पष्ट कह कर छोड दिया क्योंकि वे श्वेताम्बर आगमों एवं परम्परा से गहराई से परिचित नहीं थे। जबकि अर्धमागधी साहित्य का सामान्य अध्येता भी 'पर्युषणाकल्प' और 'स्थापनाचार्य' के तात्पर्य से सुपरिचित होता है। इसी प्रकार समयसार के 'अपदेससुत्तमज्झं' का सही अर्थ समझना हो या नियमसार के आत्मा के विवरण को समझना हो तो आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करना होगा। अतः प्राचीन एवं समसामयिक भाषाओं के साहित्य और परम्परा का ज्ञान सभी के लिये अपेक्षित है। यह बात केवल जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अन्य भारतीय परम्पराओं के सन्दर्भ में भी समझनी चाहिए। मैं स्पष्ट रूप से यह मानता हूँ कि बौद्ध पालि 'त्रिपिटक' के अध्ययन के बिना जैन आगमों का और जैन आगमों के बिना 'त्रिपिटक' का अध्ययन पूर्ण नहीं होता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में अनेक शब्द ऐसे है, जिनके सही अर्थ एक दूसरे के ज्ञान के बिना सम्यक् रूप से नही समझे जा सकते है। अर्हत् शब्द के अरहत, अरहंत, अरिहंत, अरुहंत आदि शब्द-रूप पालि और अर्धमागधी में न केवल समान हैं अपितु उनकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ भी दोनों परम्परा में समान हैं। आज भी जिस प्रकार 'आचारांग' और 'इसिभासियाइं' जैसे अर्धमागधी आगमों को समझने के लिये बौद्ध और औपनिषदिक परम्पराओं का अध्ययन अपेक्षित है वैसे ही षट्खण्डागम को समझने के लिये श्वेताम्बर आगमग्रंथ-प्रज्ञापना, पञ्चसंग्रह जिसमें 'कसायपाहुड' भी समाहित है और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को समझना है तो बौद्धों की माध्यमिककारिका अथवा हिन्दूओं की माण्डूक्यकारिका को पढ़ना आवश्यक है। दूसरी परम्परा के ग्रन्थों के अध्ययन का डॉ. टाँटियाजी का अच्छा सुझाव है किन्तु यह किसी एक परम्परा के लिए नहीं, अपितु दोनों के लिए आवश्यक है। श्वेताम्बर विद्वान् तो शौरसेनी साहित्य का अध्ययन भी करते हैं, किन्तु अधिकांश दिगम्बर विद्वान् आज भी अर्धमागधी साहित्य से प्रायः अपरिचित हैं। अतः उन्हें ही इस सुझाव की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

६. "आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द के बराबर का कोई दार्शनिक

आज तक हुआ ही नहीं है ।"

यह सत्य है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द और श्री अमृतचन्द्र जैनदर्शन में आत्म-अनात्म विवेक को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने वाले शिखर पुरुष हैं। उनकी प्रज्ञा निश्चय ही वन्दनीय है । जैन अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में उनका जो महत्त्वपूर्ण अवदान है उसे कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है । किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि श्वेताम्बर परम्परा में हुए दार्शनिकों और चिन्तकों का अवदान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है । अनेकान्त की दर्शनजगत में तार्किक ढंग से स्थापना के क्षेत्र में सिद्धसेन दिवाकर का, समदर्शी दार्शनिक के रूप में आचार्य हरिभद्र का और साहित्य सृष्टा के रूप में हेमचन्द्राचार्य का जो अवदान है, उसे भी कम नहीं आंका जा सकता है । इनके अतिरिक्त भी मल्लवादी, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, संघदासगणी, यशोविजयजी, आनन्दघन, आदि अनेक शीर्षस्थ दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्पुरुष श्वेताम्बर परम्परा में भी हुए हैं । दर्शन-जगत् में इनका महत्त्व और मूल्य कम नहीं है । जिस प्रकार अमृतचन्द्र को अमृतचन्द्र बनाने में कुन्दकुन्द का सबसे बड़ा योगदान है, उसी प्रकार कुन्दकुन्द को कुन्दकुन्द बनाने में भी सिद्धसेन दिवाकर और नागार्जुन जैसे जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। दिगम्बर विद्वानों को इसे भी नहीं भूलना चाहिए कि दिगम्बर समाज को कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र की प्रतिभा से परिचित करवाने वाले बनारसीदास, भैय्या भगवतीदास और कानजीस्वामी मूलतः श्वेताम्बर परम्परा में ही जन्मे थे । कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र को दिगम्बर परम्परा में सुस्थापित करनेवाले श्वेताम्बर कुलोद्भूत इन अध्यात्मरसिकों का ऋण भी दिगम्बर परम्परा को स्वीकार करना चाहिए ।

७. "श्वेताम्बर के समस्त आचार्यों का निचोड 'धवला' ग्रन्थ में मिल जाता है इसके जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं ।"

भाई सुदीपजी, डॉ. टाँटियाजी के इस कथन का सीधा तात्पर्य तो यह है की यदि 'धवला' में श्वेताम्बर आचार्यों के विचारों का निचोड है, तो वह श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ है, इसे भी स्वीकार करना होगा और धवलाकार को श्वेताम्बर आचार्यों का ऋणी भी होना पड़ेगा । लेकिन यह कथन केवल एक अतिशयोक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है । क्योंकि धवला में मुख्यतः

तो पूर्ववर्ती श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मग्रन्थों में वर्णित विषय का ही निचोड है। इसके अलावा अधिकतर दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी समस्याएँ तो उसमें केवल सतही (ऊपरी) स्तर पर ही वर्णित है। क्या अनेकान्त की स्थापना की दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क' और उसकी टीका में अथवा 'नयचक्र' और सिंहसूरि की उसकी टीका में अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य' और उसकी चूर्णी में अथवा 'बृहत्कल्प','व्यवहार', और 'निशीथ'के भाष्य एवं चूर्णियों में जैन आचार की गूढतम समस्याओं के सन्दर्भ में जो गम्भीर विवेचन है, वह क्या धवला में उपलब्ध है ?

एक सामान्यजन को तो ऐसे कथनों से भ्रमित किया जा सकता है, किन्तु उन विद्वानों को जिन्होंने दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया हो, ऐसे अतिशयोक्ति-पूर्ण कथनों से भ्रमित नहीं किया जा सकता हैं। प्रो. टाँटियाजी ने चाहें यह बात दिगम्बर आचार्यों और जनसाधारण को खुश करने की दृष्टि से कह भी दी हो तो क्या वे अपने इस कथन को अन्तरात्मा से स्वीकार करते हैं ?

पुनः यह कथन कि 'धवला जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं' यह भी चिन्त्य है। वैसे तो प्रत्येक ग्रन्थ अपनी विषयवस्तु या शैली आदि की अपेक्षा से अपने आप में विशिष्ट होता है अतः उसकी तुलना किसी अन्य परम्परा के ग्रन्थों से करके उन्हें निकृष्ट ठहरा देना एक निरर्थक प्रयास ही होगा ? यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि 'धवला' अपने आप में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है वह तो 'षट्खण्डागम' के पाँच खण्डों की टीका है। उसका वैशिष्ट्य केवल कर्म सिद्धान्त की विवेचना की दृष्टि से ही है। यदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को एक ओर छोड भी दे तो क्या 'धवला' और 'समयसार' में कोई तुलना की जा सकती है ? क्या 'समयसार', 'धवला' की अपेक्षा निम्न कोटि का ग्रन्थ है ? दूसरी परम्परा के ग्रन्थों को निम्न कोटि का बताने के लिए इस प्रकार की वाक्यावलियों का प्रयोग उचित नहीं है। क्या टाँटियाजी की दृष्टि में 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना', 'सन्मतितर्क', और उसकी टीका अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य' 'धवला' की अपेक्षा निम्न कोटि के ग्रन्थ हैं ? किसी भी ग्रन्थ के सापेक्षिक वैशिष्ट्य को स्वीकार करना एक बात है, किन्तु निरपेक्ष रूप से उसे सर्वोपरि घोषित कर देना अनेकान्त के उपासकों

के लिये उचित नहीं है ।

८. "शौरसेनी पालि भाषा की जननी है :- यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है । पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया ।"

यद्यपि इस कथन की समीक्षा हम पूर्व लेख में कर चुके है,★ फिर भी स्पष्टता के लिए दो-तीन बातें बताना आवश्यक हैं ।

मेरा प्रथम प्रश्न तो यह है कि 'द'कार और 'ण'कार प्रधान शौरसेनी जो दिगम्बर आगम ग्रन्थों अथवा नाटकों में मिलती है वह तो तीसरी शताब्दी के पूर्व कहीं उपलब्ध ही नहीं है, जबकि बौद्ध त्रिपिटक पालि भाषा में उसके पूर्व लिखे जा चुके थे । क्या कोई भी परवर्ती भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा की जननी हो सकती है ? क्या आदरणीय टाँटियाजी और सुदीपजी किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें यह कहा गया हो कि शौरसेनी से पालि भाषा का जन्म हुआ ? पुनः क्या इस बात का भी कोई प्रमाण है कि पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और फिर उनको पालि में लिखा गया । आचार्य बुद्धघोष के प्रमाणिक कथन के आधार पर हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध-वचन मूलतः मागधी में थे-

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका ।

ब्रह्मणो च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे ।।+

अतः यह कहना तो संभव है कि मागधी पालि भाषा की जननी है किन्तु यह कथमपि सम्भव नही है कि परवर्ती शौरसेनी पूर्ववर्ती मागधी या पालि भाषा की जननी है - यह तो पौत्री को माता बनाने जैसा प्रयास है। यह बात तो बौद्ध विद्वानों ने स्वीकार की हैं कि जो बुद्ध-वचन पहले मागधी में थे, उन्हें पालि में रूपान्तरित किया गया किन्तु यह तो किसी ने भी आज तक नहीं कहा कि बुद्ध-वचन पहले शौरसेनी में थे और उन्हें जलाकर फिर पालि में लिखा गया । यदि

★ देखें इसी ग्रन्थ में प्रकाशित मेरा लेख - जैन आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी या शौरसेनी - सागरमल जैन

\+ Preface to R.S. Childer's A dictionary of the Pali Language.' P. xiii

इस समबन्ध में उनके पास कोई प्रमाण हो तो प्रस्तुत करें। मुझे तो ऐसा लगता है कि आदरणीय टाँटियाजी ने मात्र यह कहा होगा कि प्राकृत (मागधी) पालि भाषा की जननी है और पहले बौद्धों के ग्रन्थ प्राकृत में थे, उनको जला दिया गया और पालि भाषा में लिखा गया है। यहाँ प्राकृत के स्थान पर शौरसेनी शब्द की योजना भाई सुदीपजी ने स्वयं की है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। प्रो. टाँटियाजी जैसे बौद्ध विद्या के प्रकाण्ड विद्वानस्त्र ऐसी आधारहीन बातें कर सकते हैं—यह विश्वसनीय नहीं लगता है। डॉ. सुदीपजी ने इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ की हैं। इसका प्रमाण यह है कि प्राकृत विद्या, जनवरी-मार्च ९६ में उन्होंने टाँटियाजी के नाम से लिखा है कि "बौद्धों ने बाद में....योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध साहित्य का मागधीकरण किया और शौरसेनी निबद्ध बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात कर दिया गया" जबकि प्राकृत विद्या, जुलाई-सितम्बर ९६ में लिखा हैं कि "बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया।" इस प्रकार सुदीपजी टाँटियाजी के नाम से एक जगह लिखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थों का मागधीकरण किया गया जबकि दूसरी जगह लिखते हैं की पालि में लिखा गया - इन दोनों में सच क्या है ? टाँटियाजी ने तो कोई एक ही बात कही होगी। मागधी और पालि दोनों अलग अलग भाषाएँ है। सत्य तो यह है कि बौद्ध साहित्य मागधी से पालि में लिखा गया था न कि शौरसेनी से पालि में। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है की सुदीपजी ने टाँटियाजी के शब्दों में तोड़ मरोड़ की है।

९. "कर्म सिद्धान्त के बहुत रहस्यों को जब हम (श्वेताम्बर) नहीं समझ पाते हैं, तब हम 'षट्खण्डागम' के सहारे से ही उनको समझते हैं। 'षट्खण्डागम' में कर्म-सिद्धान्त के समस्त कोणों को बडे वैज्ञानिक ढंग से रखा गया हैं।"

यह सत्य है कि 'षट्खण्डागम' में जैन कर्मसिद्धान्त का गम्भीर एवं विशद विवेचन है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कर्म-सिद्धान्त के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिये श्वेताम्बरों को भी कभी-कभी उसका सहारा लेना होता हैं। किन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहीए कि 'षट्खण्डागम' मूलतः दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ न होकर उस विलुप्त यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, जो अर्धमागधी आगमों और उनमे प्रतिपादित स्त्री-मुक्ति के सिद्धान्त को मान्य रखता

था जिसका प्रमाण उसके प्रथम खण्ड का ९३ वाँ सूत्र है जिसमें से 'संजद' शब्द के प्रयोग को हटाने का दिगम्बर विद्वानों ने उपक्रम भी किया था और प्रथम संस्करण को मुद्रित करते समय उसे हटा भी दिया था-यद्यपि बाद में उसे रखना पड़ा, क्यों कि उसे हटाने पर उस सूत्र की धवला टीका गडबड़ा जाती थी। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपनी पुस्तक "जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय" के तृतीय अध्याय में की है और प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना बता देना पर्याप्त है कि यह 'षट्खण्डागम' मूलतः 'प्रज्ञापना' आदि अर्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुआ है और इसके प्रथम खण्ड की जीवसमास की विषयवस्तु से बहुत कुछ समरूपता है और दोनों एक ही काल की कृतियाँ है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले जीवसमास की भूमिका में कर रहा हूँ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि 'षट्खण्डागम'में प्रतिपादित जैन कर्म-सिद्धान्त के इतिहास को समझने के लिए अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर कर्मसाहित्य का अध्ययन भी उतना ही जरूरी है जितना 'षट्खण्डागम' का। मैं स्वयं भी जैन कर्म-सिद्धान्त के विकसित स्वरूप के गम्भीर विवेचन की दृष्टि से 'षट्खण्डागम' के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार करता हूँ किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा प्रणीत प्राचीन कर्म-साहित्य को नकार दे।

१०. "हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' 'धवला' से है। 'धवला' समस्त जैन दर्शन और ज्ञान का अगाध भण्डार है। 'धवला' में क्या नहीं है ?"

हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' 'धवला' से है इस कथन का अर्थ यह है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को 'धवला' से लिया हैं। यह विश्वास नही होता कि क्या टाँटिया जी जैसे प्रौढ विद्वान् को जैन इतिहास का इतना भी बोध नहीं है कि 'धवला और हरिभद्र के 'योगशतक' में कौन प्राचीन है ? अनेक प्रमाणों से यह सुस्थापित हो चुका है कि 'धवला' की रचना नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई जबकि हरिभद्र आठवीं शताब्दी के विद्वान् है। सत्य तो यह है कि हरिभद्रसूरि के 'योगशतक' से 'धवलाकार' ने लिया है, अतः टाँटियाजी जैसे विद्वान के नाम से ऐतिहासिक सत्य को भी उलट देना कहाँ तक उचित है ? धवलाकार ही हरिभद्रसूरि के ऋणी हैं, हरिभद्रसूरि धवलाकार के

ऋणी नहीं हैं।

यह सत्य है कि 'धवला' में अनेक बातें संकलित कर ली गई हैं, किन्तु अनेक तथ्यों का संकलन करने मात्र से कोई ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता है। पुनः यह कहना कि 'धवला' में क्या नहीं है, - एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन के अलावा कुछ नहीं है। जैन विद्या के अनेक पक्ष ऐसे हैं जिनकी 'धवला' में कोई चर्चा ही नहीं है। 'धवला' मूलतः 'षट्खण्डागम' की टीका है, जो जैन कर्म-सिद्धान्त का ग्रन्थ है अतः उसका भी मूल प्रतिपाद्य तो जैन कर्म-सिद्धान्त ही है, अन्य विषय तो प्रसंगवश समाहित कर लिये गये हैं। 'धवला'में क्या नहीं है ? इस कथन का यह आशय लगा लेना कि 'धवला' में सब कुछ है, एक भ्रान्ति होगी। 'प्रवचनसारोद्धार' आदि अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों का विषय वैविध्य 'धवला' से भी अधिक है।

११. "आचार्य वीरसेन बहुश्रुत विद्वान थे। उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य का गहन अवलोकन किया था।"

आचार्य वीरसेन एक बहुश्रुत विद्वान थे यह मानने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वही एक मात्र बहुश्रुत विद्वान हुए हो, ऐसा भी नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में ऐसे अनेक बहुश्रुत विद्वान् हुए हैं। पुनः उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य का अध्ययन किया हो, यह मानने में भी किसी को बाधा नहीं हो सकती है किन्तु यह कहना कि उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य का गहन अवलोकन किया था - अतिशयोक्तपूर्ण कथन ही है। 'धवला'में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा और उसके ग्रन्थों से उनके परिचित न होने का संकेत करते हैं। साथ ही उनके काल तक श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य इतना विपुल था कि उस सबका गहन अध्ययन कर लेना एक व्यक्ति के लिए किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं था। अधिक तो क्या ? जिस यापनीय परम्परा के ग्रन्थ पर उन्होंने टीका लिखी उसकी अनेक मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने कोई संकेत तक नहीं दिया। उस युग के श्वेताम्बर आगमों, यापनीय ग्रन्थों और स्वयं अपनी ही परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विषयवस्तु के सम्बन्ध मे धवलाकार का ज्ञान कितना सीमित था यह तो उनकी टीका से ही स्पष्ट है।

१२. "जैनदर्शनका हर विषय (systematic) और क्रमबद्ध रूप में शौरसेनी साहित्य में प्राप्त होता है ।"

यह सत्य है कि शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन से सम्बन्धित जिन विषयों की विवेचना की गई है, वह अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है, किन्तु इसका कारण यह है कि शौरसेनी साहित्य जिस काल में निर्मित हुआ उस काल तक जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से विकसित हो चुके थे । किसी भी सिद्धान्त का विकास एक कालक्रम में होता है । क्रमबद्धता और व्यवस्था तो उस अन्तिम स्थिति की परिचायक है जब वह सिद्धान्त अपने विकास की चरम अवस्था में पहुँच जाता है । शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होते हैं, यह तो इस तथ्य का सूचक है कि शौरसेनी साहित्य अर्धमागधी आगम साहित्य से परवर्ती है और उसी के आधार पर निर्मित हुआ है । परवर्ती कालीन रचनाओं की यह विशेषता होती है कि वे अपने पूर्वकालीन रचनाओं की कमियों का निराकरण कर अपने विषय को अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती हैं । अतः शौरसेनी साहित्य में वर्णित विषयों का अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध होना इसी तथ्य का सूचक है कि वे अर्धमागधी आगमों से परवर्ती हैं । पुनः इस कथन का यह आशय भी नहीं समझना चाहिए कि अर्धमागधी साहित्य में क्रमबद्धता और व्यवस्था का अभाव है । अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी श्वेताम्बर परम्परा की अनेक परवर्तीकालीन रचनाओं में भी ऐसी ही व्यवस्था और क्रमबद्धता उपलब्ध होती है । सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रगणि, हरिभद्र, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र आदि की रचनाओं में भी ऐसी ही विषय की सुसम्बद्धता एवं सुस्पष्टता हैं ।

१३. "श्वेताम्बर और दिगम्बर : दोनो एक दूसरे के सहायक बनिये ।"

आदरणीय टाँटियाजी का यह सुझाव तो हम सभी को स्वीकार करने योग्य है । वस्तुतः यदि हमें जैन धर्म-दर्शन के समग्र स्वरूप को समझना या प्रस्तुत करना है तो परस्पर एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है क्योंकि दोनों परम्पराएँ परस्पर मिलकर ही जैन धर्म और संस्कृति का एक संपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकती हैं । किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दूसरे की आलोचना अथवा

दूसरे को हेय मानकर अपनी श्रेष्ठता का बढ-चढ कर दावा करना, इस दिशा में कथमपि सहायक नही हो सकेगा। हमें अपनी परम्पराओं की विशेषता को उजागर करने का अधिकार तो है किंतु दूसरे पक्ष को हीन या नीचा दिखाकर नहीं। हमें अपनी बातों को इस तरह से प्रस्तुत करना चाहिए कि वे दूसरे की अस्मिता और गरिमा को खण्डित न करें। अपेक्षा तो यह भी की जानी चाहिए कि हम दूसरे पक्ष में निहित अच्छाइयों को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर रहें और इस प्रकार अपनी उदार दृष्टि का परिचय दें। प्रो. टाँटियाजी ने शौरसेनी साहित्य और दिगम्बर परम्परा की अच्छाइयों को उजागर करके अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया हैं। किन्तु उसे तोड़-मरोड़कर इस तरह क्यों प्रस्तुत किया जा रहा है कि जिससे अर्धमागधी साहित्य और श्वेताम्बर समाज की अस्मिता को आघात लगें।

१४. "इस व्याख्यान में टाँटियाजी ने धवला, षट्खण्डागम, वीरसेन, कुन्दकुन्द, मूलाचार, आत्मख्याति, अमृतचन्द्र आदि की भी खुलकर प्रशंसा की।"

निश्चय ही 'षट्खण्डागम', उसकी 'धवला' टीका और टीकाकार वीरसेन का जैन कर्म-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण अवदान है, जिसे जैन दर्शन का कोई भी अध्येता अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' और अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' टीका के कलशों का जैन दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण अवदान है उसके आधार पर उन्हें जैन अध्यात्म-रूपी मन्दिर का स्वर्णकलश कह सकते हैं। आदरणीय टाँटियाजी ने उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की प्रशंसा कर अपनी उदारता का परिचय दिया हैं और इस प्रकार अपना कर्तव्य पूर्ण किया हैं। जैन विद्या का कोई भी तटस्थ विद्वान् इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के महत्त्व और मूल्य को अस्वीकार नहीं करेगा। किन्तु भाई सुदीपजी को इस प्रशंसा का यह आशय नहीं लगाना चाहिए कि केवल दिगम्बर परम्परा में या केवल शौरसेनी साहित्य के क्षेत्र में ही उच्च कोटि के विद्वान् हुए हैं और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भी सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रगणी, हरिभद्र, हेमचन्द्र, आदि अनेक विद्वान हुए हैं और उनकी रचनाओं का भी महत्त्व एवं मूल्य कम नहीं हैं।

यदि **प्राकृत विद्या** को वस्तुतः प्राकृत विद्या का नाम सार्थक करना है तो उसे प्राकृत की विभिन्न विधाओं यथा अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश

सभी को समान रूप से महत्त्व देना चाहिए। यदि उन्हे केवल शौरसेनी का ही गुणगान करना है और दूसरी प्राकृतों को हेय दिखाना है तो पत्रिका का नाम **शौरसेनी प्राकृत विद्या** या **शौरसेनी विद्या** रख लेना चाहिए। केवल शौरसेनी ही प्राकृत है, उसी से समस्त प्राकृतों का जन्म हुआ है और उसी में ही सत्साहित्य का सर्जन हुआ है, ऐसा कथन सत्य नहीं है। प्राकृत की अन्य विधाओं में भी उत्तम कोटि के ग्रन्थ लिखे गये हैं ओर शीर्षस्थ विद्वान हुए हैं। अतः उन्हें हेय समझ किसी भी प्रकार की अनभिज्ञता और अज्ञानता को बीच में लाकर प्राकृत विद्या के महत्त्व को घटाने का उपक्रम नहीं होने देना चाहिए।

मैं **प्राकृत विद्या** के सम्पादक भाई सुदीपजी से यह निवेदन करना चाहूँगा कि या तो वे आदरणीय टाँटियाजी के व्याख्यान की टेप को अविकल रूप से यथावत् प्रकाशित कर दें या उस टेप को जो चाहे उन्हें उपलब्ध करा दें ताकि उसे प्रकाशित करके यह निरर्थक विवाद समाप्त किया जा सकें।

शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में प्रो. भोलाशंकर व्यास की स्थापनाओं की समीक्षा

—प्रो. सागरमल जैन

प्राकृत विद्या के सम्पादक डॉ. सुदीप जैन ने भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान में उभरकर आए कुछ विचार-बिन्दुओं को **'प्राकृत-विद्या'**, जनवरी - मार्च १९९७ के अपनें सम्पादकीय में प्रस्तुत किया है । हम यहाँ सर्वप्रथम प्रो. भोलाशंकर व्यास के नाम से प्रस्तुत उन विचार-बिन्दुओं को अविकल रूप से देकर फिर इनकी समीक्षा करेंगे । डॉ. सुदीप जैन लिखते हैं कि -

"प्राकृत भाषा इस देश की मूल भाषा रही है और प्राकृत के विविध रूपों में भी शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का 'क्षेत्रीय संस्करण' थी । शौरसेनी प्राकृत मध्य देश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य-सृजन होता रहा है । इसीलिए शौरसेनी प्राकृत ही अन्य सभी प्राकृतों एवं लोक भाषाओं की जनती रही है । पहिले मूल दो ही प्राकृतें थी—शौरसेनी और मागधी । परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है। 'महाराष्ट्री' का कोई स्वतंत्र अस्तित्व मैं नहीं मानता । यही नहीं, 'अर्धमागधी' प्राकृत, जो कि मात्र श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में ही मिलती है, का आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है । इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुड सुत्त,' 'छक्खंडागमसुत्त', कुन्दकुन्द-साहित्य एवं 'धवला' - 'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती है । दिगम्बर जैन साहित्य की शौरसेनी प्राकृत भाषा अकृत्रिम, स्वाभाविक एवं वास्तविक जनभाषा है । यही नहीं, बौद्ध ग्रन्थों की भाषा मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही है, जिसे कृत्रिम रूप से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्वदेशीय प्रभावों के साथ पालि रूप दिया गया । उसे खींच-तानकर प्राचीन बनाने की कोशिश की गयी है, जिससे उसकी वाक्यरचना में जटिलता आ गयी है । इसी कारण मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ । मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वीय उच्चारण-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है, मूलतः वह भी शौरसेनी ही है ।"

-प्रो. भोलाशंकर व्यास (प्राकृत विद्या, जनवरी-मार्च, ९७ पृ. १७)

यद्यपि इन विचार-बिन्दुओं में अधिकांश वे ही हैं, जिन्हें नथमलजी टाँटिया के व्याख्यान के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किया गया हैं। इस प्रकार प्रो. व्यासजी के व्याख्यान में उभरकर आए विचार बिन्दुओं में यद्यपि कोई नवीन मुद्दे सामने नहीं आये हैं फिर भी यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१. "शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसका क्षेत्रीय संस्करण थी।"

शौरसेनी प्राकृत यदि मूल प्राकृत थी, तो फिर भास के नाटकों (ईसा की दूसरी शती) के पूर्व के प्राकृत अभिलेखों और प्राकृत के ग्रन्थों में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ अर्थात् मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" एवं "न्" के स्थान पर "ण्" क्यों नहीं दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में हम विस्तार से चर्चा अपने पूर्व लेखों 'जैन आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी या शौरसेनी',[१] 'अशोक के अभिलेखों की भाषा'[२] आदि में कर चुके हैं। सत्यता यह है कि ईसा की दूसरी शती के पूर्व उस शौरसेनी प्राकृत का कहीं कोई अता-पता ही नहीं था, जिसे मूल प्राकृत कहा जा रहा है।

प्रो. व्यासजी का यह कथन कि 'मागधी प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का क्षेत्रीय संस्करण थी', यह भाषा-शास्त्रीय ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं है, क्योंकि मूलतः सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से ही विकसित हुई हैं। मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आदि प्राकृतों को प्राकृत भाषा के क्षेत्रीय संस्करण तो कहा जा सकता है किन्तु इनमें से किसी को भी मूल और दूसरी को उसका क्षेत्रीय संस्करण नहीं कहा जा सकता। इनमें से किसी को माता और किसी को पुत्री नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये तो सभी बहनें

१. "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी", डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशित **जिनवाणी**, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अप्रैल, मई, जून, एवं सितम्बर अंक, ९८। ज्ञातव्य हो कि यह लेख इस कृति में इसी नाम से प्रकाशित है।

२. 'अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी', जैनविद्या के विविध आयाम, खण्ड ६, **डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८, पृ. ७०८-७११.

हैं। यदि हम कालक्रम की दृष्टि से विचार करे तो हमें यही मानना होगा कि लिखित भाषा के रूप में मागधी ही सबसे प्राचीन प्राकृत है। अतः इस दृष्टि से प्रो. व्यासजी का यह समीकरण उलट जाएगा और उन्हें यह मानना होगा कि मागधी मूल प्राकृत है ओर शौरसेनी प्राकृत मागधी प्राकृत का एक क्षेत्रीय संस्करण है।

२. "शौरसेनी प्राकृत मध्य-देश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा।"

यह तो सत्य है कि शौरसेनी प्राकृत मध्य-देश में बोली जाती थी, किन्तु प्रो. व्यास का यह कथन कि सम्पूर्ण भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा है, साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर मात्र एक अतिशयोक्ति से अधिक कुछ नहीं है। क्योंकि नाटकों के शौरसेनी अंशों को छोडकर हमें शौरसेनी प्राकृत में कोई भी धर्म या सम्प्रदाय निरपेक्ष सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। शौरसेनी प्राकृत में जो भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे मात्र जैनों के दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के हैं। यह ठीक है कि इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने चाहे वे उत्तर भारत के हो या दक्षिण भारत के, शौरसेनी प्राकृत में ही अपने ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उसी काल में श्वेताम्बर जैन आचार्य अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में अपनी धार्मिक एवं साहित्यिक कृतियों की रचना कर रहे थे। मात्र इतना ही नहीं, उसी काल में धर्म एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना भी महाराष्ट्री प्राकृत में हो रही थी। जहाँ शौरसेनी प्राकृत में सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, वही महाराष्ट्री प्राकृत में ऐसे अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इससे यही फलित होता है कि धर्म-निरपेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत ही अधिक प्रचलन में थी। आज शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत में करीब दस गुने से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जो शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री के अधिक व्यापक होने का प्रमाण है। अतः यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत अधिक व्यापक रही है और उसके माध्यम से धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के साहित्य का सृजन भारत में होता रहा है।

३. "शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों एवं अन्य भाषाओं की जननी है।"

इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम अपने पूर्व लेखों में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।[3] सत्य तो यह है कि सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई हैं और इसलिये यह कहना किसी भी स्थिति में युक्ति-संगत नहीं है कि शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों या अन्य भाषाओं की जननी है। किसी भी एक प्राकृत को दूसरी प्राकृत से उत्पन्न हुआ मानना एक भ्रान्ति है। सभी साहित्यिक प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों के संस्कारित रूप हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय बोली की उच्चारणगत अपनी विशेषता होती है, जो उस क्षेत्र की भाषा की भी विशेषता बन जाती है। ये उच्चारणगत क्षेत्रीय विशेषताएँ प्रत्येक क्षेत्र की निजी होती हैं, वे किसी भी दूसरे क्षेत्र के प्रभाव से उत्पन्न नहीं होती हैं। अतः प्रत्येक प्राकृत अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ अपनी क्षेत्रीय बोली से जन्म लेती है, किसी दूसरी प्राकृत से नहीं। जैसे मारवाडी, मेवाडी, मालवी, बुन्देली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, आदि बोलियों को किसी एक बोली विशेष से या हिन्दी से उत्पन्न मानना अवैज्ञानिक है एवं एक भ्रान्ति है और कोई भी भाषाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेगा; वैसे ही किसी एक प्राकृत विशेष को भी दूसरी प्राकृत से या संस्कृत से उत्पन्न मानना भी एक भ्रान्ति है।

४. "पहले दो प्राकृतें थीं शौरसेनी और मागधी; महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परवर्ती रूप है। महाराष्ट्री प्राकृत का मैं कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता"।

प्रथम तो यह कहना कि महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का ही परवर्ती रूप है, उचित नहीं है क्योंकि शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि सभी प्राकृतों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जहाँ शौरसेनी प्राकृत में मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' में परिवर्तन होता है वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में लुप्त व्यंजनों की 'य'-श्रुति होती है। पुनः

---

३. "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी", डॉ. सागरमल जैन जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अंक अप्रैल, मई, जून एवं सितम्बर अंक, ९८। ज्ञातव्य है कि यह लेख इस कृति में भी इसी नाम से प्रकाशित है।

शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत कोमल और कान्त है वहाँ शौरसेनी कठोर पदावलियों से युक्त है, यथा - 'वद्धमान' का 'वड्ढमाण'। पुनः जब दोनों की अपनी-अपनी लक्षणगत भिन्नता है, तो फिर यह कहना कि मैं महाराष्ट्री प्राकृत का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता हूँ, उचित नहीं है।

आज यदि प्राकृतों में किसी प्राकृत का सर्वाधिक साहित्य है तो वह महाराष्ट्री प्राकृत का ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की तुलना में शेष सभी प्राकृतों का साहित्य तो दशमांश भी नहीं है, जिसमें ९०% साहित्य हो उस प्राकृत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानना, केवल पक्षाग्रह का ही सूचक है। पुनः यदि महाराष्ट्री और शौरसेनी में अन्तर नहीं है तो फिर शौरसेनी नाम का आग्रह ही क्यों? आज एक भी ऐसा साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि शौरसेनी प्राचीन है और महाराष्ट्री परवर्ती है। अश्वघोष या भास के नाटकों से अर्थात् ईस्वी सन् की दूसरी सदी से पूर्व का एक भी साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर शौरसेनी की अन्य प्राकृतों से प्राचीनता सिद्ध हो सके। जबकि सातवाहन हाल की महाराष्ट्री प्राकृत में रचित 'गाथासप्तशती' उनसे प्राचीन है, क्योंकि सातवाहन हाल का काल प्रथम शती माना जाता है। मात्र यही नहीं, गाथासप्तशती भी एक संग्रह ग्रन्थ है और इसकी अनेकों गाथाएँ उससे भी पूर्व रचित हैं अतः परवर्ती भाषा महाराष्ट्री नहीं, शौरसेनी ही है।

५. "अर्धमागधी प्राकृत जो मात्र श्वेताम्बर जैन आगमों में मिलती है उसका आधार शौरसेनी प्राकृत ही है।"

इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा मैं इसी ग्रन्थ में प्रकाशित अपने स्वतन्त्र लेख 'आगमों की मूल भाषा शौरसेनी या अर्धमागधी' में कर चुका हूँ।[४] यह ठीक है कि अर्धमागधी में मागधी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी मिलते हैं। यद्यपि अर्धमागधी में अनेक स्थानों पर 'र्' का 'ल्' विकल्प से तो होता ही है, मागधी के कुछ लक्षण जैसे सर्वत्र "र्" का "ल्", "स्" का "श" नहीं मिलते हैं किन्तु इसमें, फिर भी यह सुनिश्चित सत्य है कि भगवान् महावीर के वचनों के आधार पर सर्वप्रथम इसी अर्धमागधी प्राकृत में आगम और आगमतुल्य ग्रन्थों की रचना हुई है। ऐसी स्थिति में यह कहने का

४. वही, अंक जून ९८, पृ. २३-२८

क्या अर्थ है कि अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत है। इसके विपरीत सिद्ध तो यही होता है कि शौरसेनी प्राकृत का आधार अर्धमागधी है, क्योंकि शौरसेनी आगमों में अर्धमागधी आगमों और महाराष्ट्री के हजारों शब्द-रूप ही नहीं, अपितु हजारों गाथाएँ भी मिलती हैं, इसकी सप्रमाण चर्चा भी हम अपने पूर्व लेख में कर चुके हैं।[५]

पुनः आगमिक उल्लेखों से भी यही प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन अर्धमागधी प्राकृत में दिये थे और उन्हीं के आधार पर गणधरों ने उसी भाषा में ग्रन्थ रचना की थी। भगवान् महावीर और उनके गणधरों की मातृभाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी, क्योंकि वे सभी मगध में ही जन्मे थे। क्या प्रो. व्यासजी भाषाशास्त्रीय, साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाणों से यह सिद्ध कर सकते हैं कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत या उसमें रचित ग्रन्थ है ?

उपलब्ध अर्धमागधी आगमों यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, आदि को पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभी विद्वानों ने ईस्वी पूर्व की रचनाएँ मानी हैं, जबकि कोई भी शौरसेनी आगम ईसा की तीसरी-चौथी शती के पूर्व का नहीं है। इससे सिद्ध यही होता है कि शौरसेनी आगमों का आधार अर्धमागधी आगम है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा करने के बाद अन्त में यह कहा - 'शेषं प्राकृतवत्', इस सूत्र से क्या यही सिद्ध किया जाय कि शौरसेनी प्राकृत का आधार महाराष्ट्री प्राकृत है। ज्ञातव्य है हेमचन्द्र का 'प्राकृत' से तात्पर्य 'महाराष्ट्री प्राकृत' ही है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत के नाम से महाराष्ट्री प्राकृत का ही व्याकरण लिखा हैं।

६. "शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं।"

इस सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन हम अपने स्वतन्त्र लेख 'अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी' में कर चुके हैं।[६] सभी विद्वानों

---

५. वही, अंक मई ९८, पृ. २४-२८

६. अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी, लेखक डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशित-जैनविद्या के विविध आयाम, खण्ड ६, **डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ,** पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८, पृ. ७०८-७११.

ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया हैं कि अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी अर्थात् पालि ही है, यद्यपि अभिलेखों पर तत् तत् क्षेत्र की बोलियों का किञ्चित् प्रभाव देखा जाता है। शौरसेनी प्राकृत के जो दो विशिष्ट लक्षण माने जाते हैं मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" और दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" – ये दोनों लक्षण अशोक के किसी भी अभिलेखों में प्रायः नहीं पाए जाते हैं। अतः हमें अशोक के भिन्न-भिन्न अभिलेखों की भाषा को तत् तत् प्रदेशों की क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही मानना होगा। इन क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव के आधार पर उसे अर्धमागधी के निकट तो कह सकते हैं, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण नहीं पाया जाता है। एक दो अपवादों को छोड़कर अशोक के अभिलेखों में न तो कहीं मध्यवर्ती "त्"का "द्" पाया जाता है और न कहीं दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" का प्रयोग मिलता है। उनमें सर्वत्र ही दन्त्य "न्" का प्रयोग देखा जाता है।

जहाँ तक प्रो. व्यासजी के इस कथन का प्रश्न है कि "शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं" इस विषय में हम उनसे यही जानना चाहेंगे कि क्या गिरनार के किसी भी शिलालेख में मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" का प्रयोग हुआ है ? जहाँ तक मूर्धन्य "ण्"का प्रश्न है वह शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों में समान रूप से ही पाया जाता है फिर भी उसका अशोक के अभिलेखों में कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। हम उनसे साग्रह निवेदन करना चाहेंगे कि वे गिरनार के अभिलेखों में उन शब्द-रूपों को छोडकर जो शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों में ही पाए जाते हैं, शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणयुक्त शब्द-रूप दिखावें जो अर्धमागधी और महाराष्ट्री के शब्द रूपों से भिन्न हो और मात्र शौरसेनी की विशिष्टता को लिए हुए हो।

यहाँ पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गिरनार का क्षेत्र तो महाराष्ट्री प्राकृत का क्षेत्र है। गिरनार के अभिलेखों में जिन्हें वे शौरसेनी प्राकृत के शब्द-रूप मान रहे हैं वे वस्तुतः महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप हैं। अतः गिरनार के अभिलेखों की भाषा को शौरसेनी प्राकृत नहीं माना जा सकता है। पुनः गिरनार की बात तो दूर रही स्वयं शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र देहली-टोपरा के अशोक के अभिलेखों में कहीं भी शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाए जाते

हैं अपितु वहाँ पर 'लाजा' जैसे मागधी रूप ही मिलते हैं। फिर वे किस आधार पर यह कहते हैं कि गिरनार के शिलालेखों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप मिलते हैं।

७. "इसी क्रम में आगे प्रो. व्यासजी कहते हैं - इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुडसुत्त', 'छक्खंडागमसुत्त', कुन्दकुन्द साहित्य एवं 'धवला', 'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती है।"

प्रो. व्यासजी ने उपरोक्त ग्रन्थों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी कहा है। मैं प्रो. व्यासजी से अत्यन्त विनम्र शब्दों में यह पूछना चाहूँगा कि क्या इन ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने कोई विश्लेषण किया हैं ? क्या इन ग्रन्थों के सन्दर्भ में उनका अध्ययन प्रो. उपाध्ये और प्रो. खडबडी जैसे दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वानों की अपेक्षा भी अधिक गहन है। आज तक किसी भी विद्वान् ने दिगम्बर आगमों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी नहीं माना है। प्रो. उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि उसकी (प्रवचनसार की) भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खडबडी छक्खंडागम की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं मानते हैं और उस पर अर्धमागधी का प्रभाव बताते हैं। यदि हम इन सभी ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करें तो स्पष्ट रूप से हमें एक दो नहीं परंतु सैकडों और हजारों शब्द-रूप महाराष्ट्री और अर्धमागधी प्राकृत के मिलेंगे।

मैंने अपने पूर्व लेख 'जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' में विस्तार से इस सम्बन्ध में भी चर्चा की है।[७] प्रो. व्यासजी जिसे परिशुद्ध शौरसेनी कह रहे हैं वह तो अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की एक प्रकार की खिचडी है। शौरसेनी के प्रत्येक ग्रन्थ में इन विभिन्न प्राकृतों का अनुपात भी भिन्न-भिन्न पाया जाता है।

८. "बौद्ध ग्रन्थों की पालि भाषा भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही थी, जिसे कृत्रिम रूप से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्व-देशीय प्रभावों के साथ पालिरूप दिया गया।"

---

७. जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी, डॉ. सागरमल जैन, जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अंक, अप्रैल, मई, जून, ९८.

बौद्ध ग्रन्थों की मूल भाषा क्या थी और उसे किस प्रकार पालि में रूपान्तरित किया गया, इसकी भी विस्तृत सप्रमाण समीक्षा अपने "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी" नामक लेख में कर चुके हैं।[८] उस लेख में हमने स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया हैं कि भगवान् बुद्ध का कार्यक्षेत्र मुख्यतः मगध और उसका समीपवर्ती प्रदेश रहा है। उन्होंने उनकी मातृभाषा मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे और उनके उपदेशों का प्रथम संकलन भी मागधी में ही हुआ था। यह सत्य है कि कालान्तर में उसे संस्कृत के निकटवर्ती बनाकर पालि रूप दिया गया, किन्तु उसे किसी भी रूप में शौरसेनी प्राकृत नहीं कहा जा सकता है। उसे खींचतान कर शौरसेनी बताने का प्रयत्न एक दुराग्रह मात्र ही होगा।

९. "मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ।"

हमे यहाँ प्रो. व्यासजी के द्वारा खडी की गई इस भ्रान्ति का निराकरण करना होगा कि सभी प्राकृतें शौरसेनी जन्य हैं। अपने व्याख्यान में वे एक स्थान पर कहते हैं कि "शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी और इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का क्षेत्रीय संस्करण थी।" पुनः वे कहते हैं कि "परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है, महाराष्ट्री प्राकृत का स्वतंत्र अस्तित्व मैं नहीं मानता।" पुनः वे कहतें है कि अर्धमागधी प्राकृत जो कि मात्र श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में मिलती है उसका आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है। इसी क्रम में आगे वे कहते हैं कि "बौद्धग्रन्थों की पालि भाषा भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही है।" उनके इन सब कथनों का निष्कर्ष तो यह है कि मागधी भी शौरसेनी है, महाराष्ट्री भी शौरसेनी है, अर्धमागधी भी शौरसेनी है और पालि भी शौरसेनी है। यदि मागधी, पालि, अर्धमागधी और महाराष्ट्री सभी शौरसेनी हैं, तो फिर यह सब अलग-अलग भाषाएँ क्यों मानी जाती हैं और व्याकरण-ग्रन्थों में इनके अलग-अलग लक्षण क्यों निर्धारित किये गये हैं? मागधी, शौरसेनी, आदि सभी प्राकृतों के अपने विशिष्ट लक्षण हैं जो उससे भिन्न अन्य प्राकृत में नहीं मिलते हैं, फिर वे सब एक कैसे कही जा सकती है। यदि मागधी, पालि, अर्धमागधी और महाराष्ट्री सभी शौरसेनी हैं तो इन सभी के विशिष्ट लक्षणों को भी शौरसेनी के ही लक्षण मानने होंगे और ऐसी स्थिति में शौरसेनी का कोई

---

८. वही

भी विशिष्ट लक्षण नहीं रह जायेगा। किन्तु क्या शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों के अभाव में उसे शौरसेनी नाम भी दिया जा सकेगा ? वह तो परिशुद्ध शौरसेनी न होकर के मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की ऐसी खिचडी ही होगी जिसे शौरसेनी न कहकर अर्धमागधी कहना ही उचित होगा, क्योंकि अर्धमागधी का ही यह लक्षण बताया गया है। ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी का लक्षण यही है कि उसमें मागधी के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी पाए जाते हैं।

१०. "मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत मानता हूँ, मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वी उच्चारण-भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। मूलतः यह भी शौरसेनी ही है।"

मैं प्रो. व्यासजी से सविनय यह पूछना चाहूँगा कि यदि शौरसेनी ही मूल प्राकृत भाषा है तो क्या इसका कोई अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण है ? 'प्रकृतिः शौरसेनी' के जिस सूत्र को लेकर शौरसेनी को मूल प्राकृत भाषा कहा जा रहा है उसमें 'प्रकृति' शब्द का क्या अर्थ है इसकी विस्तृत समीक्षा भी हम हमारे पूर्व लेख "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी" में कर चुके हैं।[९]

पुनः प्रो. व्यासजी का यह कथन कि मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, यही सिद्ध करता है कि मागधी प्राकृत शौरसेनी से उत्पन्न नहीं हुई है। प्रो. व्यासजी दबी जबान से यह तो स्वीकार करते हैं कि 'मागधी भी इतनी ही प्राचीन है' किन्तु वे स्पष्ट रूप से यह क्यों नहीं स्वीकार करते कि मागधी शौरसेनी की अपेक्षा प्राचीन है। अशोक के अभिलेख जो ई. पू. तीसरी शती में लिखे गये वे मागधी की प्राचीनता को स्पष्ट रूप से उजागर कर रहे हैं, जबकि शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या ग्रन्थांश ई. सन् की प्रथम-दूसरी शती के पूर्व का नहीं है। यदि साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर मागधी प्राकृत शौरसेनी की अपेक्षा कम से कम ३०० वर्ष प्राचीन है, तो फिर यह मानना होगा कि वह मागधी ही मूल प्राकृत भाषा है।

पुनः प्रो. व्यासजी का यह कथन कि "पूर्वीय उच्चारण-भेद के अतिरिक्त मागधी और शौरसेनी में कोई अन्तर नहीं है, यह कथन मूलतः वह भी शौरसेनी

९. वही,

ही है", युक्ति-संगत नहीं है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि उच्चारण-भेद और प्रत्ययों के भेद ही विभिन्न प्राकृतों के अन्तर का आधार है। यदि भेद नहीं होते तो फिर विभिन्न प्राकृतों में कोई अन्तर किया ही नहीं जा सकता था और सभी प्राकृतें एक ही होती। वस्तुतः प्राकृत के मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आदि जो विविध भेद हैं वे अपने-अपने क्षेत्रीय उच्चारण-भेद और प्रत्यय-भेद के आधार पर ही स्थित हैं। अतः यह तो कहा जा सकता है कि मागधी, पालि अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आदि सभी मूलतः प्राकृतें हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि मागधी आदि भी शौरसेनी है। इनकी अपनी अपनी लाक्षणिक भिन्नताएँ हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि मागधी भी शौरसेनी है या शौरसेनी का क्षेत्रीय संस्करण है। जिस प्रकार मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आदि प्राकृत के विभिन्न भेद हैं उसी प्रकार शौरसेनी भी प्राकृत का ही एक भेद है। पुनः यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर जैन आगमों की शौरसेनी परिशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उसे जैन शौरसेनी नाम दिया हैं।

मैं "प्राकृत विद्या" के सम्पादक डॉ. सुदीपजी जैन से निवेदन करना चाहूँगा कि वे प्रो. टाँटियाजी और प्रो. भोलाशंकरजी व्यास के नाम पर शौरसेनी की सर्वोपरिता की थोथी मान्यता स्थापित करने हेतु प्राकृत-प्रेमियों के बीच खाई न खोदें। वस्तुतः यदि प्राकृत-प्रेमी पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री की सर्वोपरिता के नाम पर आपस में लड़ने लगेंगे तो इससे 'प्राकृत-विद्या' की ही दुर्गति होगी। आज आवश्यकता है मिलजुल कर समवेत रूप से प्राकृत विद्या के विकास की, न कि प्राकृत के इन क्षेत्रीय भेदों के नाम पर लड़कर अपनी शक्ति को समाप्त करने की। आशा है प्राकृत-विद्या के सम्पादक को इस सत्यता का बोध होगा और वे प्राकृत-प्रेमियों को आपस में न लड़ाकर प्राकृतों के विकास का कार्य करेंगे।

★ ★ ★

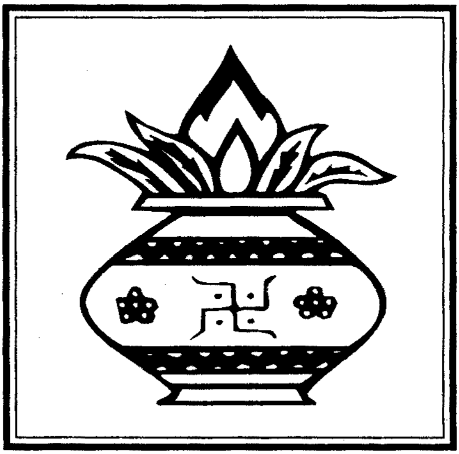

विद्वत् - संगोष्ठी
का
समायोजन
एवं
फल-श्रुति

|| नमो जिणपवयणस्स ||

विद्वत्-संगोष्ठी

जिनोगामों की मूल भाषा

एवं

ग्रन्थ विमोचन

नि मं त्र ण

पावन निश्रा

परमपूज्य आचार्यश्री विजयसूर्योदयसूरिजी महाराज

एवं

आचार्यश्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी महाराज

दिनांक

सं. २०५३, चैत्र कृष्ण ५-६, रविवार सोमवार

२७-४-९७ एवं २८-४-९७

उपक्रम एवं आयोजन

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्या मण्डल, प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड

शुभ स्थल

श्रीहठीसिंहनी वाडी, शाहीबाग रोड, दिल्ही दरवाजा बहार, अमदाबाद-४.

निव्वुइपहसासणयं जयइ सया सव्वभावदेसणयं ।
कुसमयमयनासणयं जिणिंदवरवीरसासणयं ॥

सुज्ञ महोदय,

सविनय प्रणाम,

यह सुविदित है कि धर्मचक्रप्रवर्त्तक भगवान् तीर्थंकरदेव हमेशा प्राकृत भाषा में धर्म का प्रवचन करते हैं । अतएव उनका द्वादशांगी 'गणिपिटकरूप' प्रवचन भी उसी भाषा में निबद्ध है । प्राकृत भाषा के छ भेद प्रसिद्ध हैं । इन छ भेदों में से कौनसी प्राकृत में भगवान् तीर्थंकर धर्मप्रवचन देते थे इस विषय पर कतिपय आधुनिक विद्वानों द्वारा मत-मतान्तर खड़ा किया जा रहा है । अतः इस विषय पर चर्चा-विचारणा-समीक्षा द्वारा प्रमाणभूत निष्कर्ष-निर्णय करने के लिए एक द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन किया गया है । इस संगोष्ठी में विख्यात एवं बहुश्रुत विद्वज्जन अपने शोधपूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत करेंगे । इस संगोष्ठी के प्रारंभिक समारोह में प्राकृत एवं पालिभाषा में मूर्धन्य विद्वान् डॉ. के.आर.चन्द्र द्वारा भाषिक दृष्टिसे पुनः सम्पादित "आचारांग : प्रथम अध्ययन" का तथा अन्य ग्रन्थों का विमोचन किया जाएगा । इस सुअवसर पर आप सादर एवं सप्रेम आमंत्रित हैं ।

कार्यक्रम

ग्रंथविमोचन-समारोह

दिनांक : २७-४-९७, समारोह का प्रारंभ प्रातः ८-३०
अतिथि विशेष : **शेठ श्री श्रेणिकभाई कस्तूरभाई**
श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन (दिल्ही)
उद्घोषक : **डॉ. कुमारपाल देसाई**

दीप-प्राकट्य एवं "**आचारांग : प्रथम अध्ययन**" का विमोचन
विश्वविख्यात विद्वद्वर्य **पण्डित श्री दलसुखभाई मालवणिया** द्वारा

मीरपुर नां जिनमंदिरो
त्रिभुवन-तिलक श्री राणकपुर तीर्थ
लेखक : **डॉ. मधुसूदन ढाँकी**
शेठश्री श्रेणिकभाई द्वारा
"Concentration" ले. **वीरचंद राघवजी गांधी**
डॉ. कुमारपाल देसाई द्वारा

इस समारोह में पू. आचार्य भगवंत एवं अन्य वक्ताओं के प्रासंगिक प्रवचन होंगे ।

जिनगामों की मूल भाषा : विद्वत्-संगोष्ठी

प्रथम बैठक : दिनांक २७-४-९७, दोपहर २-३० से ५-००
शोधपत्र-पठन एवं चर्चा
अध्यक्ष : **मधुसूदन ढांकी** (बनारस)

द्वितीय बैठक : दिनांक २८-४-९७, प्रातः ९-०० से ११-३०
शोधपत्र-पठन एवं चर्चा
अध्यक्ष : **एस.आर.बेनर्जी** (कलकत्ता)

तृतीय बैठक : दिनांक २८-४-९७, दोपहर २-३० से ५-००
शोधपत्र-पठन एवं चर्चा, समापन-समारोह
अध्यक्ष : डॉ. सागरमल जैन (बनारस)

विद्वानों की उपस्थिति

पं. दलसुखभाई मालवणिया, अहमदाबाद
डॉ. जयन्त प्रे. ठाकर, बडोदा
डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, अहमदाबाद
डॉ. सागरमल जैन, वाराणसी
डॉ. मधुसूदन ढांकी, वाराणसी
डॉ. रमणीकभाई शाह, अहमदाबाद
डॉ. के. ऋषभ चन्द्र, अहमदाबाद
डॉ. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर
डॉ. सत्यरंजन बेनर्जी, कलकत्ता
डॉ. आर. पी. पोद्दार, लाडनूँ
डॉ. वी.एम.कुलकर्णी, मुंबई
डॉ. के.एम.पटेल, पाटण
डॉ. जितेन्द्र बी. शाह, अहमदाबाद

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों एवं प्राकृत भाषा के अध्येताओं की उपस्थिति रहेगी ।

निवेदक

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी

प्राकृत विद्या मण्डल

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड,

अहमदाबाद

आर्थिक सौजन्य

(१) श्री शारदाबेन चीमनलाल एज्युकेशनल रीसर्च सेन्टर, अहमदाबाद

(२) प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद

(३) अ.सौ.श्रीमती दर्शनाबेन जयंतीलाल शेठ, गोधरा

॥ नमो जिणपवयणस्स ॥

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी आदि तीन संस्थाओं के संयुक्त तत्त्वावधान में अहमदाबाद नगरे ग्रन्थ-विमोचन एवं

द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी

सप्रेम आमंत्रण

सुज्ञ महोदय,

सविनय निवेदन है कि प्राकृत भाषा को केन्द्र में रखकर तैयार किये गये ग्रन्थ के विमोचन के उपलक्ष्य में प्राकृतभाषा-विषयक एक द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन हो रहा है। इस संगोष्ठी में आप वक्ता/श्रोता-रूपेण सादर आमंत्रित हैं। यह पत्र पाते ही आपकी संमति शीघ्र लिख भेजें ऐसी प्रार्थना है। आमंत्रितों को आने-जाने का किराया देने का प्रबन्ध है। वक्ता महानुभावों को लिखित शोधपत्र देना होगा। उनको तदर्थ पुरस्कार दिया जायेगा।

समय : दिनांक २७ एवं २८ अप्रैल, १९९७, रविवार एवं सोमवार
(विमोचन-समारोह सनेत चार बैठक होंगी।)

पावन सांनिध्य : प्रभावक जैनाचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरीश्वरजी एवं
आचार्यश्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी

विषय : **जिनागमों की मूलभाषा**

आयोजन : १. प्राकृत ग्रन्थ परिषद् (Prakrit Text Society)
२. प्राकृत विद्या मण्डल एवं ३. प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड

स्थल : हठीभाई की वाडी का जैन उपाश्रय, दिल्ली दरवाजा बाहर,
अहमदाबाद-३८० ००४.

विद्वानों की संभवित उपस्थिति : पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, डॉ. मधुसूदन ढांकी, डॉ. के. रिषभ चन्द्र, इत्यादि।

आमंत्रितों के निवास एवं भोजन की सुविधा इधर ही होगी। अधिक विस्तृत जानकारी आमंत्रण पत्र के साथ भेजी जाएगी।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क-सूत्र : **डॉ. के. आर. चन्द्र**
३७५, सरस्वती नगर, अहमदाबाद-३८० ०१५. दूरभाष : ६७४३१७८

अहमदाबाद

दिनांक १८-३-९७

मान्य विद्वद्वर्य,

दिनांक २७-२८ (रविवार-सोमवार) अप्रैल, १९९७ को अहमदाबाद में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्या मंडल एवं प्राकृत जैन विद्या विकास फंड के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोज्यमान द्विदिवसीय "जिनागमों की मूल भाषा" संबंधी संगोष्ठी के लिए आपसे सस्नेह निवेदन है कि आप संलग्न परिपत्र में दर्शाये गये विषयों पर अपनी तरफ से संशोधन-पत्र तैयार करने की कृपा करें जिन्हें यहाँ पर पढ़ा जाएगा तथा उन पर चर्चा की जाएगी। आप अपनी स्वीकृति जितनी जल्दी हो सकें प्रदान करके हमें अनुगृहीत करें। विभाग-१ में आपके नाम के साथ दर्शाया गया विषय आपको किसी कारणवश अनुकूल नहीं हो तो विभाग-२ में सूचित किये गये विषयों में से किसी एक को आप पसंद कर सकते हैं और तथानुसार आप हमें उस विषय की स्वीकृति का पत्र शीघ्र भेजने की कृपा करेंगे जिससे एक ही विषय का किसी अन्य विद्वान् द्वारा पुनरावर्तन न हो। इस संगोष्ठी में पढ़े जाने वाले सभी शोध-पत्रों को एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करने की योजना है अतः प्रकाशन के लिए आप अपने शोध-पत्र देते समय उन्हें टंकित (टाईप) करवाकर देने की कृपा करेंगे। प्रकाशनार्थ स्वीकृत निबंधों के लिए मान-देय की व्यवस्था की गयी है।

आपकी तरफ से शीघ्र पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में, सधन्यवाद,

भवदीय

के. आर. चन्द्र

(कृते : संगोष्ठी-संयोजक)

जिनागमों की मूल भाषा पर विद्वत्-संगोष्ठी
संभावित विषय एवं विद्वान् : शोध-पत्र-वाचकों की सूची

विभाग-१

१. जिनागमों की मूलभाषा अर्थात् क्या ? : पं. दलसुखभाई मालवणिया

२. इस प्रकार की संगोष्ठी क्यों ?: डॉ. रमणीकभाई एम. शाह, अहमदाबाद

३. मध्ययुगीन भारतीय-आर्य भाषाओं में अशोक की भाषा, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों का स्थान : डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, अहमदाबाद

४. शौरसेनी प्राकृत भाषा और साहित्य के विषय में विविध विद्वानों के अभिप्राय : डॉ. वी.एम.कुलकर्णी, मुंबई

५. 'प्रकृतिः शौरसेनी' एवं 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का मौलिक तात्पर्य क्या ? व्याकरणकार एवं आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के मन्तव्य : डॉ. आर.पी.पोद्दार, लाडनूँ

६. शौरसेनी आगम साहित्य में अर्धमागधी भाषा और आगमों के उलेख : डॉ. सागरमल जैन, वाराणसी

७. दिगम्बर आगम ग्रंथों की भाषा : प्रो. डॉ. एम. ए. ढांकी, वाराणसी

८. भारतीय आर्य भाषाओं (मध्ययुगीन) के विकासक्रम में शौरसेनी और अर्धमागधी का स्थान (काल की दृष्टि से) : प्रो. जयन्त प्रे. ठाकर, बडौदा

९. प्राचीन (ई.सन् पूर्व के) अशोक के शिलालेखों की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत का सादृश्य : डॉ. सत्यरंजन बनर्जी, कलकत्ता

१०. प्राचीन (ई.सन् पूर्व) खारवेल के शिलालेखों की भाषा के साथ अर्धमागधी प्राकृत का सादृश्य : कु. शोभना आर. शाह

११. पालित्रिपिटक की भाषा और अर्धमागधी आगमों की भाषा में समानता : प्रिन्सिपाल कानजीभाई पटेल, पाटन अथवा डॉ. दीनानाथ शर्मा, पाटन

१२. अर्धमागधी आगमों में शौरसेनी भाषा एवं शौरसेनी आगम ग्रंथों के उल्लेख : डा. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

१३. आचारांग के विविध संस्करणों एवं विविध प्रतियों में भाषिक असमानता : डॉ. के. आर. चन्द्र, अहमदाबाद

विभाग - २ संगोष्ठी सम्बन्धी अन्य अपेक्षित विषय

१. अर्धमागधी आगम-साहित्य की भाषा में वैदिक भाषा (छान्दस्) की परंपरा से आगत प्राचीनतालक्षी तत्त्व

२. मूल अर्धमागधी भाषा पालि भाषा या शौरसेनी भाषा या और महाराष्ट्री में से कौन सी प्राकृत / प्राकृतों के अधिक निकट ?

३. शौरसेनी आगमों की भाषा में परम्परा से आगत अर्धमागधी भाषा के प्राचीन तत्त्व

४. प्राचीनता की दृष्टि से अर्धमागधी और शौरसेनी की तुलना

५. श्वेताम्बर आगमों की मूल भाषा में प्रविष्ट अन्य परवर्ती काल की भाषाओं के तत्त्व : परिस्थिति और कारण

६. आगम-ग्रंथो की विविध हस्तप्रतों में (भाषिक दृष्टि से) पाठ-भेद क्यों ?

संगोष्ठी एवं चर्चा की फलश्रुति : अर्धमागधी आगम-ग्रंथों को भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित करने के लिए एक शोध-संस्था की स्थापना की अनिवार्यता ।

अहमदाबाद
दिनांक : २५-३-९७

आदरणीय विद्वद्वर्य,

सादर सस्नेह निवेदन है कि इधर जैन उपाश्रय के व्याख्यान हॉल, (हठीसिंह की वाडी, शाहीबाग रोड, दिल्ली दरवाजे के बाहर, अहमदाबाद-३८०००४) में 'जिनागमों की मूलभाषा' पर एक द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी (रविवार-सोमवार, दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को) आयोजित की जा रही है जिसमें प्रमुखतः नामांकित विद्वानों द्वारा शोध-पत्र पढ़े जाएँगे और विषय के विविध पहलुओं पर चर्चा की जाएगी (देखिए संलग्न सूची)। इस अवसर पर डॉ. के.आर.चन्द्र द्वारा भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित **आचारांग : प्रथम अध्ययन** एवं अन्य ग्रंथों का विमोचन सन्माननीय वरिष्ठ विद्वान् पद्मभूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया के कर-कमलों द्वारा किया जाएगा।

अतः आपसे विनति है कि आप इस प्रसंग पर अपना बहुमूल्य मन्तव्य और शुभकामना संदेश भेजकर हमें अनुगृहीत करने की कृपा करें।

संलग्न

(१) कार्यक्रम

(२) संशोधनपत्र एवं वाचकगण

भवदीय

के. आर. चन्द्र

(कृते : संगोष्ठी-संयोजक)

अहमदाबाद

ता. २५-३-'९९

सवंदन नम्र विनति

पूज्य आचार्यप्रवर / मुनिवर्य श्री,

सवंदन निवेदन करते हुए हर्ष हो रहा है कि इधर अहमदाबाद में रविवार तथा सोमवार, तदनुसार दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को **"जिनागमों की मूलभाषा"** पर एक विद्वत्-संगोष्ठी जैन उपाश्रय के व्याख्यान हॉल (श्री हठीसिंहनी वाडी, शाहीबाग रोड, दिल्ली दरवाजे के बाहर) में आयोजित की जा रही है जिसमें नामांकित विद्वानों द्वारा शोध-पत्र पढ़े जाएँगे और विषय के विविध पहलुओं पर चर्चा (देखिए संलग्न सूची) की जाएगी। इसी अवसर पर भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित **आचारांग : प्रथम अध्ययन** (संपादक : डॉ. के. आर. चन्द्र) एवं अन्य ग्रंथों का विमोचन सुविख्यात जैन विद्वान् पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया और अन्य महानुभावों द्वारा किया जाएगा।

अतः आप से निवेदन है कि इस प्रसंग पर अपना मन्तव्य एवं शुभेच्छा संदेश भेजने की महती कृपा कीजिएगा।

संलग्न : निवेदक

(१) कार्यक्रम **के. आर. चन्द्र**

(२) संशोधन एवं वाचकगण (कृते : संगोष्ठी-संयोजक)

Jināgamoṃ kī Mūla Bhāṣā

(Original Language Of The Jain Canonical Texts)
Proposed Seminar on the Subject
and
Releasing of New Publications

Ahmedabad
Dt. 25-3-97

Dear Professor,

It is a great pleasure to announce that under the joint auspices of Prakrit Text Society, Prakrit Vidya Mandal and Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad and in the presence of His Holiness Revd. Ācārya Shrī Vijaya Sūryodayasūrīshwarjī and Vijaya Shīlachandrasūrijī, a Seminar (mentioned above) is planned to be organised on Sunday and Monday, the 27th and 28th April, 1997 on the national level and on that occasion (the list of topics and scholars attached) the Ācārāṅga, Prathama Śrutaskandha, Prathama Adhyayana, (linguistically) re-edited by Dr. K.R. Chandra will be released by Renowned Jain Scholar Pt. D.D. Malvania at the Jain Upashraya Lecture Hall, Hathisingh's Wadi, Shahibaug Road, Outside Delhi Gate, Ahmedabad (India), 380004.

You are a renowned scholar and deeply interested in the subject, therefore the undersigned requests you to convey your valuable views and opinion on the Subject and oblige us by sending a message of good wishes.

Thanking you in anticipation,

Yours Sincerely,
K.R.Chandra
(For the Organisers of the Programme)

Address for Contact
Prakrit Jain Vidya Vikas Fund
375, Saraswati Nagar,
Nr. Azad Society,
Ahmedabad - 380015. INDIA (Phone (079) 6743178

अहमदाबाद

दिनांक : १-४-९७

महोदय श्री,

सहर्ष निवेदन है कि प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्या मंडल और प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में तथा प्रभावक जैनाचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरीश्वरजी एवं विजयशीलचंद्रसूरिजी की पावन निश्रा में रविवार एवं सोमवार तदनुसार दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को **'जिनागमों की मूलभाषा'** संबंधी एक विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है और उस अवसर पर डॉ. के.आर.चन्द्र द्वारा भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित **आचारांग : प्रथम श्रुत-स्कन्ध : प्रथम अध्ययन** एवं अन्य ग्रंथों का विमोचन सम्माननीय विद्वद्वर्य पद्मभूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया के कर-कमलों द्वारा किया जाएगा । इस संगोष्ठी में ख्याति-प्राप्त विद्वानों द्वारा विषयनिष्ठ विविध पहलुओं पर शोध-पत्र पढ़े जाएँगे और उन पर चर्चा की जाएगी (देखिए संलग्न सूची)

आपको इस संगोष्ठी में प्रेक्षक के रूप में एवं चर्चा में भाग लेने के लिए अपनी ओर से निमंत्रण भेज रहे हैं अतः अपनी सम्मति प्रदान कर हमें अनुगृहीत कीजिएगा । आपके आने-जाने का द्वितीय वर्ग का रेलवे किराये (या बस किराये) का वहन संगोष्ठी के आयोजकों द्वारा किया जाएगा एवं आपके आवास एवं भोजन की निःशुल्क व्यवस्था की जाएगी ।

संगोष्ठी के स्थल एवं निवास की व्यवस्था श्री हठीसिंह की वाडी, शाहीबाग रोड, दिल्ली दरवाजे के बाहर, अहमदाबाद-३८०००४ में की गयी है ।

संपर्क सूत्र : निवेदक

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड **के. आर. चन्द्र**

अहमदाबाद-३८००१५ (कृते : संगोष्ठी-संयोजक)

अहमदाबाद

दिनांक : ७-४-९७

संगोष्ठी में सक्रिय भाग लेने के लिए विशेष निमंत्रण

श्रीमान् / श्रीमती,

सहर्ष निवेदन है कि रविवार-सोमवार, दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को जैन उपाश्रय व्याख्यान होल, हठीसिंह की वाडी, शाहीबाग, अहमदाबाद-३८० ००४ में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्यामंडल एवं प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में तथा प्रभावक आचार्य श्री विजयसूर्योदयसूरीश्वरजी एवं विद्वान् आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी की पावन निश्रा में 'जिनागमों की मूलभाषा' पर एक द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी आयोजित की गयी है और उसमें सक्रिय भाग लेने के लिए आपको सप्रेम विशेष आमंत्रण भेजा जा रहा है। आपके आने-जाने के खर्च का वहन आयोजकों द्वारा किया जाएगा तथा भोजन की व्यवस्था भी उधर ही की जाएगी। अतः आप अपनी सम्मति नीचे दिये गये पते पर भेजकर अनुगृहीत करें। उसी अवसर पर डॉ. के.आर.चन्द द्वारा भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित **आचारांग : प्रथम अध्ययन** का एवं अन्य ग्रंथों का विमोचन सन्माननीय वरिष्ठ विद्वान् पद्मपूषण पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया के कर-कमलों द्वारा किया जाएगा।

साभार पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में,

निवेदक

के. आर. चन्द्र

(कृते : संगोष्ठी-संयोजक)

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड

३७५, सरस्वती नगर, अहमदाबाद- ३८००१५

जिनागमों की मूलभाषा पर द्विदिवसीय विद्वत्-संगोष्ठी का विवरण एवं फल-श्रुति

प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, प्राकृत विद्या मंडल और प्राकृत जैन विद्या विकास फंड नामकी तीन संस्थाओं के संयुक्त तत्त्वावधान में तथा जैनाचार्य श्री सूर्योदयसूरीश्वरजी और श्री शीलचन्द्रसूरिजी की पावन निश्रा में अहमदाबाद के शेठ हठीसिंह केसरीसिंह वाडी के भव्य जैन मंदिर के परिसर में "जैन आगमों की मूल भाषा" संबंधी एक विद्वत्-संगोष्ठी दिनांक २७-२८ अप्रैल, १९९७ को आयोजित की गयी ।

अभी-अभी दो एक वर्षों से जैन धर्म के कतिपय मुनिवरों और अमुक विद्वानों द्वारा ऐसा मत प्रस्थापित करने का जोरदार प्रयत्न किया जा रहा है कि भ. महावीर और उनके आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत नहीं बल्कि शौरसेनी प्राकृत थी । इस नये अभिगम और मतभेद का प्रामाणिक मूल्यांकन तथा परीक्षण करना अनिवार्य बन गया था । इसीलिए आचार्य श्री की प्रेरणा से इस विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन हुआ ।

दो दिन की इस संगोष्ठी में स्थानीय और भारत के विविध स्थलों से आगत विद्वानों द्वारा १३ शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये । इसमें पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, डॉ. मधुसूदन ढांकी, डॉ.सागरमल जैन , डॉ. सत्यरंजन बेनर्जी , डॉ. रामप्रकाश पोद्दार, डॉ. एन. एम. कंसारा, डॉ. के. ऋषभ चन्द्र, डॉ. रमणीक शाह, डॉ. भारती शेलत, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. जितेन्द्र शाह, डॉ. दीनानाथ शर्मा, समणी चिन्मयप्रज्ञा एवं कु. शोभना शाह जैसे विद्वानों ने भाग लिया । इसके अतिरिक्त अन्य लगभग चालीस विद्वानों ने भी संगोष्ठी की चर्चा में सक्रिय योग-दान दिया ।

दिनांक २६ अप्रैल को उद्घाटन समारोह में अतिथि विशेष के रूप में श्वेताम्बर जैन समाज के अग्रणी श्री श्रेणिकभाई कस्तूरभाई, श्री प्रताप भोगीलाल तथा श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन उपस्थित रहे । समारोह का संचालन डॉ. कुमारपाल देसाई ने किया । इस अवसर पर डॉ. के.आर.चन्द्र के द्वारा दस वर्ष के कठोर परिश्रम से भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित **"आचारांग - प्रथम अध्ययन"** का विमोचन (लोकार्पण) जैन दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् पं. दलसुखभाई मालवणिया के करकमलों द्वारा किया गया तथा अन्य पांच ग्रन्थों का विमोचन भी विभिन्न महानुभावों द्वारा किया गया ।

संगोष्ठी की प्रथम बैठक की अध्यक्षता बहुश्रुत इतिहासविद् तथा स्थापत्यविद् प्रो. मधुसूदन ढांकी ने की । इस बैठक में चार विद्वानों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये ।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र की अध्यक्षता सुविख्यात भाषाशास्त्री डॉ. सत्यरंजन बेनर्जी (कलकत्ता) ने की । इस बैठक में पाँच शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये जिसमें डॉ. सागरमल जैन, डॉ. पोद्दार, डॉ. बेनर्जी, आदि के व्यक्तव्य विशेष ध्यान आकर्षित करने वाले और मौलिक संशोधन युक्त थे ।

इसी दिन अंतिम (तीसरी) बैठक की अध्यक्षता जैन विद्या और भारतीय संस्कृति के गहन अभ्यासी डॉ. सागरमल जैन (पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) ने की । उन्होंने इस बैठक

का सुंदर संचालन किया । इस बैठक में इस संगोष्ठी के पुरोधा डॉ. के. आर. चन्द्र सहित चार विद्वानों ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किये।

प्राकृत भाषा और साहित्य को केन्द्र में रखकर सभी विद्वानों के शोध-प्रबंधो का सार यह था कि - १. भगवान् महावीर की भाषा अर्धमागधी ही थी, २. शौरसेनी से अर्धमागधी भाषा प्राचीन है, ३. जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी ही है और ४. शौरसेनी भाषा में आगम साहित्य नहीं है ऐसा नहीं है, परन्तु वह अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा परवर्ती काल का है, प्राचीन नहीं है ।

संगोष्ठी के श्रोतागण एवं सक्रिय भाग लेने वालों में विख्यात साहित्यकार प्रो. जयंत कोठारी, सी.वी.रावल, गोवर्धन शर्मा, मलूकचंद शाह, नीतिन देसाई, वी.एम.दोशी, विनोद महेता, वसंत भट्ट, विजय पंड्या, कनुभाई शेठ, ललितभाई, निरंजन वोरा, जागृति पंड्या, गीता महेता तथा अन्य क्षेत्रों के विद्वानों की उपस्थिति बहुत ही संतोषप्रद रही ।

डॉ. मधुसूदन ढांकी और डॉ. एस.आर.बेनर्जी जैसे प्रतिभावंत विद्वानों ने अपने सेन्स ऑफ ह्यूमर से उसे रसप्रद बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, यह एक विरल घटना थी । संगोष्ठी का वातावरण रसप्रद, जीवंत और तार्किक रहा ।

संगोष्ठी के समापन के प्रसंग पर आचार्य श्री शीलचन्द्रसूरिजी ने मार्मिक और संवेदनशील शब्दों में कहा कि-

हम लोग अनेक विवादों को लेकर बैठे हैं, उनसे अब तक थके नहीं और भाषा के नाम से चली आ रही एकता को भी नष्ट करने हेतु यह नया विवाद खड़ा किया गया है। यह विवाद किसलिए ? क्या किसी की परम्परा, अस्मिता या गौरव समाप्त करने का उद्देश्य इसके पीछे जुड़ा हुआ है ? यदि ऐसा हेतु होगा तो वह कभी भी सफल नहीं होगा । परंपरा से दोनों ही संप्रदायों के प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने तथा तटस्थ विदेशी विद्वानों ने जैन आगमों की जो भाषा स्वीकार कर मान्य रखी हैं उसका विच्छेदन करना और नयी काल्पनिक बात की अनेकांत के नाम से पुष्टि करना यह किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं है । विशेष तौर पर उन्होंने यह भी कहा कि कितने ही विद्वान्-मित्र "नरो वा कुंजरो वा" के सिद्धांत को मानते हैं । इधर आये तो इधर भी 'हाँ' और उधर जाये तो उधर भी 'हाँ' । ऐसी पद्धति चाहे वे कितने ही बड़े विद्वान हों, उन्हें वास्तविक रूप में एकेडमिक शोध अध्येता की कोटि में लाकर खड़ा नहीं किया जा सकता। उनकी श्रद्धेयता स्वीकारने योग्य नहीं रहती । ऐसे मित्रों को मेरी सौहार्दपूर्ण सलाह है कि उनको शौरसेनी का पक्ष उचित लगे तो वही पक्ष स्वीकार करना चाहिए परन्तु दुहरी नीति का आश्रय लेने का आग्रह न रखें ।

अंत में अध्यक्षश्री के उपसंहार के साथ संगोष्ठी का समापन सुखद और संवादी वातावरण में पूरा हुआ ।

इस संगोष्ठी के आयोजन में डॉ. के.आर.चन्द्र और डॉ. जितेन्द्र बी. शाह की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही । दोनों दिन भोजन की व्यवस्था बक्तावरमलजी बालर, वंसराजजी भंसाली और नारायणचंदजी महेता तथा निवासादि का प्रबंध सेठ हठीसिंहवाडी ट्रस्ट ने किया था, वे निश्चय ही बधाई के पात्र हैं ।